जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 1 • जनवरी, 2003

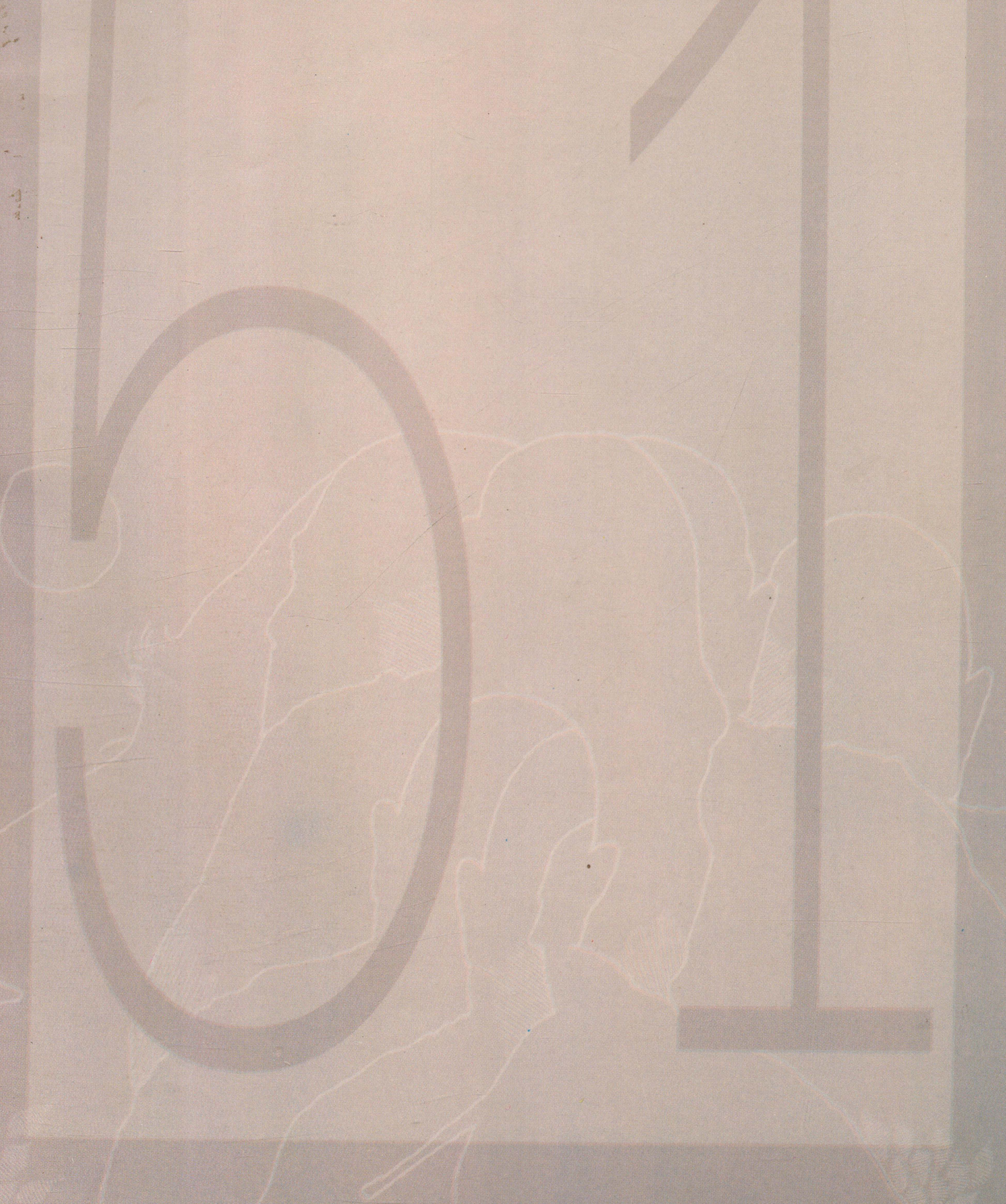

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

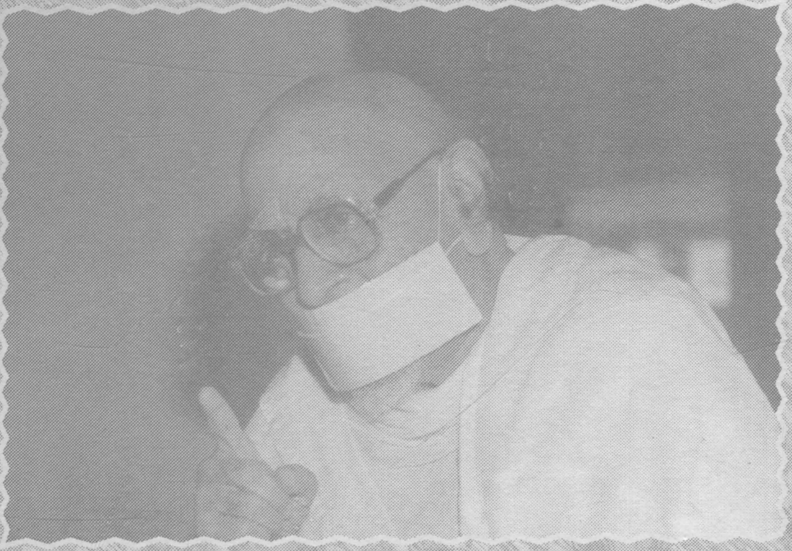

हेमराज शामसुखा
विनीत टैक्सफैब लिमिटेड
101, मामुलपेट, बंगलोर 560053
फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 ● जनवरी, 2003 ● अंक 1

प्रसंग

5
शुभू पटवा
धर्म-निरपेक्षता और संप्रदायवाद

आचार्य श्री कैलास सागर सूरि
श्री महावीर जैन आराधना
कोबा, जि. गांधीनगर, पीन-३८

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
करणीय-अकरणीय : कर्मशास्त्रीय विमर्श

15
साध्वी गवेषणाश्री
क्रिया और कर्म : सिक्के के दो पहलू

20
दयालचंद्र सोनी
चित्तानुशासन की शिक्षा

अनुभूति

25
आचार्यश्री तुलसी
जरूरत है अंतश्चेतना के विकास की

28
चतरसिंह मेहता
मृत्युबोध : स्वज्ञान का आधार

32
मुनि धनंजयकुमार
मातृत्व में है महानता का बीज

35
साध्वी विश्रुतविभा
विलक्षण है हर क्षण—जानें-जीएं

38
कहानी
कृष्ण कुमार
अम्मा का बेटा

42
कविता
वंशी माहेश्वरी की कविताएं

शीलन

45
श्रीमन्नारायण
परस्परं भावयन्तः

49
समणी हिमप्रज्ञा
सौहार्द की जननी सहनशीलता

52
मुनि विनोदकुमार 'विवेक'
आलोचना का विवेक

54
बालकथा
विष्णु प्रभाकर
असली दूल्हा

●

आवरण
अडिग/खेराज

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

मानव की कलात्मक क्षमताओं पर विचार करते समय इस बात के मनोवैज्ञानिक साक्ष्य मिलते हैं कि मानव स्वभाव में सृंजनात्मक और नया पाने-लाने की प्रवृत्ति मौजूद रहती है। इस बात का भी साक्ष्य मिलता है कि मानव मस्तिष्क में सृजनात्मक शक्ति विद्यमान है। (एरिक फ्राम : एनाटामी आफ ह्यूमन डेस्ट्रक्टिवनेस, 1973, पृष्ठ-66) अब तक यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि अस्तित्व की इच्छा का मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्ति से क्या संबंध है? इसका कारण यह है कि मनोविज्ञान और सौंदर्य विज्ञान नए विज्ञान हैं। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि सृजनात्मक शक्ति मानव स्वभाव में निहित है। प्रागैतिहासिक मानव के क्रिया-कलापों और बालकों में भी इस प्रकार की सृजनात्मक शक्ति पाई जाती है। अन्य इच्छाओं की भांति सृजनात्मक इच्छा से भी स्वतंत्र रूप से संतोष प्राप्त होता है। एक कलाकार कला की उत्कृष्टता से आनंद प्राप्त करता है।

इस प्रकार मानव जीवन, निम्नस्तर के प्राणियों के अस्तित्व और स्तर पर भिन्न है। मस्तिष्क के विकास के कारण मानव अधिक सुख-सुविधासंपन्न भौतिक जीवन प्राप्त करता है और वह बौद्धिक, नैतिक और कला के कार्यों में लगाता है। मानव जीवन भौतिक और मानसिक संतोषों के द्वारा अपने को अधिक समृद्ध बना सकता है। स्वतंत्रता सभी प्रकार के प्रतिबंधों को समाप्त करती है जिससे व्यक्ति अपने जीवन का पूरा विकास कर सके और उसको अच्छा बना सके तथा अभीष्ट दिशाओं में अपनी क्षमताओं को बढ़ा सके। इस प्रकार स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्राणी-जीवन के अस्तित्व के संघर्ष से जुड़ा है, फिर भी उसका लक्ष्य उसकी अपेक्षा अधिक उन्नत है।

मानव-व्यक्ति ऐसी क्षमताओं को अपनाने में समर्थ है जो उसके लिए और दूसरों के लिए हानिकारक हों। इस प्रकार की क्षमताओं को स्वतंत्रता की परिभाषा में शामिल नहीं किया जा सकता। व्यक्ति अपनी शक्ति से अधिक कार्य करके और भोगलिप्सा में पड़कर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर सकता है। व्यक्ति दुखवादी अथवा आत्मपीड़न की प्रवृत्ति से अपनी और दूसरों की हानि कर सकता है। ये दोनों ही अविवेकी चरित्र के लक्षण माने जाते हैं। विवेकसंपन्न व्यक्ति की क्षमताएं उसकी और दूसरे लोगों की तथा समाज की भलाई में सहायक होती हैं। स्वतंत्रता इस प्रकार की सृजनात्मक और कल्याणकारी क्षमताओं पर प्रतिबंधों को समाप्त करने के पक्ष में है।

—वी. एम. तारकुण्डे

आज की व्यवस्था में 'समान अधिकार' देने का जो महत्त्व है, वह दया दिखाने का नहीं। जो महत्त्व सहयोग का है, वह दान और परोपकार का नहीं है। समाज-व्यवस्था परिवर्तनशील है। इसलिए परिवर्तन भी स्वाभाविक है। एक व्यवस्था में उसके अनुरूप तत्त्व विकसित होते हैं और दूसरी व्यवस्था में बदल जाते हैं। धर्म अपरिवर्तनशील है। उसमें दया, दान और परोपकार की मान्यता व्यवस्था से उत्पन्न नहीं है। वह संयम से जुड़ी हुई है। संयम का विकास हो वहीं दया हो सकती है, वहीं दान और वहीं परोपकार। जो वर्तमान के असंयम को सहारा दे वहां न दया है, न दान और न परोपकार। यह लोकोत्तर भाषा है। लौकिक भाषा इससे भिन्न है और बहुत भिन्न है। उसके पास मानदंड है—भावों का आवेग या मानसिक कंपन और लोकोत्तर भाषा संयम के मानदंड से माप कर बोलती है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

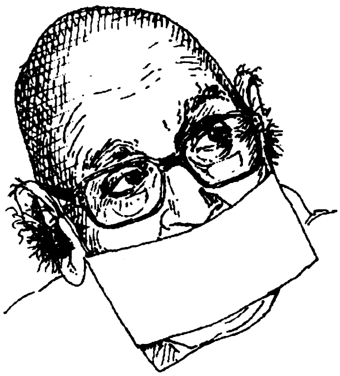

वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है—आकांक्षा और असहिष्णुता। एक ओर इच्छाओं का विस्तार, दूसरी ओर उनकी पूर्ति के साधनों की कमी। आकांक्षा और अभाव के बीच एक संघर्ष छिड़ता है, जो असहिष्णुता को जन्म देता है। उससे तनाव उत्पन्न होता है और मनुष्य अनचाहे ही संत्रास का शिकार हो जाता है। संयम और आत्मानुशासन का विकास इस समस्या के मूल और अग्र—दोनों को काटने में सक्षम है।

संयम क्या है? अनुशासन क्या है? यह अवधारणा जब तक सही और स्पष्ट नहीं होती है, समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी तत्त्व का सम्यक् ज्ञान, प्रयोग और अभ्यास—ये मिले-जुले रूप में ही अच्छे परिणाम ला सकते हैं। युगीन समस्याओं के संदर्भ में हमने अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान की बात कही। अणुव्रत का घोष है—'संयमः खलु जीवनम्' और प्रेक्षा का उद्देश्य है—'आत्मा से आत्मा को देखना'। इस घोष और उद्देश्य का आचरण ही संयम का अभ्यास है। आज सारा संसार अणुविभीषिका से संत्रस्त है। उसे आश्वस्त करने वाला या उबारने वाला कोई तत्त्व यदि है तो वह संयम और अध्यात्म ही है।

—आचार्यश्री तुलसी

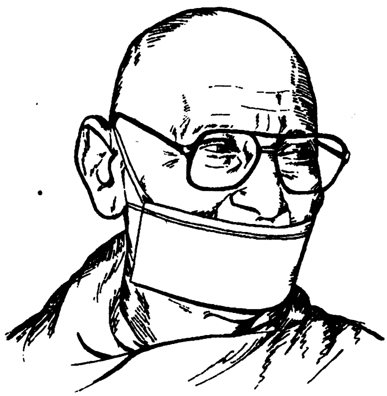

यह तथ्य है—आज तक किसी ने सत्य का पूरा प्रतिपादन किया नहीं है और भविष्य में भी सत्य का पूरा प्रतिपादन नहीं किया जा सकेगा। इस स्थिति में हम एक बात पकड़कर अकड़ जाएं, खींचातानी करें—यह कैसी समझदारी होगी? भगवान महावीर ने इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया है—तुम प्रत्येक विचार पर चिंतन करो और सोचो—यह किस 'नय' की अपेक्षा से सही है। यह मत सोचो कि यह गलत है। गलत कहने से पहले इस बात पर विचार करो—यह किस 'नय' की अपेक्षा से सही हो सकता है। जैन आचार्यों ने इस दृष्टिकोण से अनेक दर्शनों पर विचार किया है। उनके सामने ईसा का दर्शन नहीं रहा, इस्लाम का दर्शन नहीं रहा, किंतु उनके सामने जितने दर्शन थे, उन सब पर उन्होंने 'नय' दृष्टि से विचार किया। प्रत्येक दर्शन को अपना एक 'नय' माना। सात 'नय' हैं, सात सौ 'नय' भी हो सकते हैं, सात हजार 'नय' भी हो सकते हैं। कोई भी धर्म बाकी नहीं बचेगा। उन सबको मिलाएं तो अखंड सत्य सामने आएगा।

लक्ष्य है अखंड को जानना।

हम खंड को जानते हैं, किंतु हमारा लक्ष्य होना चाहिए अखंड को जानना। जो व्यक्ति खंड में उलझ जाता है, उसका व्यक्तित्व भी खंडित बन जाता है। यह जो समग्रता का दृष्टिकोण है, अनंत धर्म के संग्रह का दृष्टिकोण है, वह तुलनात्मक अध्ययन का दृष्टिकोण है। स्व-समय के साथ पर-समय कोई है ही नहीं। पूछा गया—जितने धर्म और जितने विचार हैं क्या उनको मिथ्या मानें? समाधान दिया गया—जो मिथ्या दृष्टिकोण वाला है उसके लिए सम्यक् या मिथ्या—सब-कुछ मिथ्या है। जिसका दृष्टिकोण सम्यक् हो गया उसके लिए सम्यक् श्रुत हो या मिथ्या श्रुत—सब-कुछ सम्यक् है। हमारे लिए कोई भी धर्म असत्य नहीं है और इसी आधार पर तुलनात्मक अध्ययन के क्रम को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबका दृष्टिकोण जानें और समझें, यही तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

धर्म-निरपेक्षता और संप्रदायवाद

सांप्रदायिकता, संप्रदायवाद और धर्म-निरपेक्षता ऐसे जटिल और विवादास्पद मुद्दे हैं कि इन पर किसी भी रूप में चर्चा करना एक प्रकार की जोखिम उठाना ही है। ठीक इसी तरह इनसे बचते रहना या तटस्थ या कि असंपृक्त रहना भी एक प्रकार की बुजदिली ही कहा जाएगा। इसमें किसी की लाचारी नहीं मानी जा सकती कि जिसके चलते इन मुद्दों पर कोई सवाल न उठाए जा सकें या चर्चा न हो, अलबत्ता यह अवश्य माना जा सकता है कि किसी रण-नीति या कि व्यूह-रचना के तहत कोई इन मुद्दों को उछालते हैं, तो कोई चुप रहना हितकर मानते हैं। कुछेक जन इन पर चर्चा भी अवश्य करते हैं, पर ऐसी चर्चाएं अक्सर सतही, रिवाजी किस्म की या कि आग्रहों से भरी होती हैं। व्यापक स्तर पर ऐसी चर्चाओं का न असर होता है और न कोई निष्कर्ष ही निकल पाता है।

भारत में पिछले डेढ़-दो दशक से ये मुद्दे खासे चर्चित रहे हैं और राजनीतिक स्तर पर अपने-अपने हक में भुनाने की कोशिशें तो बेशर्मी के स्तर तक उतर कर की जाती रही हैं। पर इसकी जड़ें कहीं अधिक गहरी हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार और विचारक श्री बिपनचंद्र तो मानते हैं कि सांप्रदायिक विचारधारा का प्रचार सन् 1830 के दशक में ही प्रारंभ हो गया था। प्रो. बिपनचंद्र मानते हैं कि 1947 के बाद पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे लोगों को विश्वास था कि आर्थिक विकास, शिक्षा के प्रसार आदि के द्वारा सांप्रदायिकता क्रमशः कमजोर पड़ती जाएगी। परंतु आज यदि हम देखें तो सचाई यह है कि सांप्रदायिकता की जड़ें समाज व राजनीति में गहरे तक उतर गई हैं। जो राजनीतिक दल अपने को धर्म-निरपेक्ष मानते हैं, तात्कालिक राजनीतिक लाभ के लिए उनका छद्म चरित्र भी आए दिन उजागर होता रहता है।

स्वाधीनता के साथ ही धर्म-निरपेक्षता को एक बुनियादी सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया। ऐसा करना इसलिए आवश्यक माना गया कि भारत बिभिन्न धर्मों का देश है और धर्म-निरपेक्षता से सीधा तात्पर्य यही माना गया कि धर्म को राज्यसत्ता और राजनीति से पृथक रखा जाए। सभी धर्मों के प्रति इस तटस्थ भाव को कालांतर में यह कहकर प्रचारित किया गया कि 'राज्यसत्ता' तो धर्म-विरोधी है। इसलिए धर्म-निरपेक्षता की बनिस्बत 'पंथ-निरपेक्षता' को स्वीकारने पर बल दिया गया। लेकिन ऐसे परिवर्तनों से धर्म-निरपेक्षता या संप्रदायवाद का मूल चरित्र नहीं बदला जा सकता। वह तो वैसा ही रहता है। हम देख रहे हैं कि ऐसा ही रहा भी।

दरअसल संप्रदायवाद और धर्म-निरपेक्षता जैसे मुद्दों पर जिस वर्ग को सर्वाधिक मुखर होकर बोलना चाहिए, वह वर्ग है—'धर्म-संस्था'। यही वह वर्ग है जिस पर इन मुद्दों और इनके कारण हुई प्रतिक्रियाओं का सर्वाधिक असर पड़ा है। हालत यह हो गई है कि धर्म और संप्रदाय का अंतर भी समाप्त-प्रायः-सा हो रहा है। संप्रदायवाद अथवा सांप्रदायिकता से हमारे देश में जो विखंडन हुआ है, उससे लोगों की धार्मिक आस्थाओं पर भी प्रश्नचिह्न लगे हैं। अतः यह जरूरी है कि 'धर्म-संस्था' ही प्रभावी स्तर पर विचार करे कि विखंडित हो रहे इस समाज को कैसे बचाया जाए?

सुप्रसिद्ध विचारक और इतिहासकार श्री बिपनचंद्र का तो यह भी मानना है कि सांप्रदायिकता के लिए धर्म जिम्मेदार है ही नहीं और न धर्म-निरपेक्षता को धर्म के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की जरूरत है। वे कहते हैं—'धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में, धर्म में अनुचित हस्तक्षेप का विरोध होना चाहिए।' यहीं पर श्री बिपनचंद्र यह भी कहते हैं—'राज्य, राजनीति और आर्थिक क्षेत्रों से धर्म को पूरी तरह अलग रखा जाना चाहिए।' वे महात्मा गांधी के कथन का उल्लेख करते हैं। सन् 1946 में गांधीजी ने कहा था—'यदि मैं एक 'डिक्टेटर' होता तो धर्म और राज्य को अलग कर देता। मुझे अपने धर्म पर भरोसा है। मैं उसके लिए जान दे सकता हूं। पर वह मेरा निजी मामला है।' लेकिन धर्म और दर्शन के प्रखर व्याख्याकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी राज्यसत्ता की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाने के लिए नैतिकसत्ता या धर्मसत्ता की जरूरत मानते हैं। साथ ही वे इस सचाई को भी स्वीकारते हैं कि आज धर्म का स्वर राज्यसत्ता के पीछे भटक रहा है। लोगों ने धर्म को क्रियाकांडों तक सीमित कर दिया, इसलिए ऐसा हुआ। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'क्या धर्म के लिए यह शोभनीय है कि उसे अपनी सुरक्षा के लिए राजनीति का सहारा लेना पड़े? सचमुच ज्योति राख से ढंक गई।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक धर्म-संप्रदाय के अधिष्ठाता हैं और जब वे ही यह राय प्रकट करते हैं तो इसमें बेबाक विचार प्रकट करने का उनका साहस ही केवल प्रकट नहीं होता, विचारशील धार्मिकों के सामने एक चिंतनीय सवाल भी खड़ा हो जाता है।

धर्म के सवाल पर उनका मानस-पटल एकदम स्पष्ट है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी चुनौती के स्वर में अपना मंतव्य रखते हैं—'कहा जाता है कि धर्म के कारण युद्ध हुए। मैं इस उक्ति-प्रवाह को बराबर चुनौती देता रहा हूं। मेरे पक्ष की स्थापना यह है कि युद्ध धर्म के कारण नहीं हुए, किंतु नाम और रूप के कारण हुए हैं।' इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि नाम और रूप के लिए धर्म की ओट में युद्ध हुए हैं। इन्हें धर्म के लिए युद्ध नहीं कहा जा सकता। यहीं पर धार्मिकों का दायित्व परिलक्षित होता है कि वे इसी 'ओट' को अनावृत करें। आज भी यही हो रहा है। धर्म-चादर की ओट में राजनीति की गोटियां बिठाई जाती हैं।

इतिहासकार और विचारक श्री बिपनचंद्र मानते हैं—'धर्म सांप्रदायिकता की ओर नहीं ले जाता, अपितु धार्मिक संकीर्णता, धर्मांधता और रूढ़िवाद, धर्म के शुद्ध रूप को अपनाने के नाम पर सांप्रदायिक विचारधारा एवं राजनीति के अंग बन जाते हैं।' आज हम देख रहे हैं कि क्षुद्र सत्ता की राजनीति के चलते 'वोटों' का पुख्ता जुगाड़ बिठाने में धर्म का दुरुपयोग धड़ल्ले से चलता है। यह भी देखते हैं कि कई धर्म-संप्रदायों के तो स्वयं प्रमुख ही किसी राजनीतिक दल के प्रचारक तक बन जाते हैं। इन पर 'चोट' आवश्यक है, पर जिस प्रखरता से यह 'चोट' पड़नी चाहिए—नहीं पड़ रही। इसीलिए 'राजनीति' अपना खेल खेलती जा रही है।

धर्म जब भी राजनीति का मुखापेक्षी होगा, समाज की यह दशा होगी। वर्षों से चल रहे इस चक्रव्यूह को तोड़ना आवश्यक है। जहां 'धर्म-संस्था' को इसके लिए अपने दायित्व निभाने होंगे, वहीं समाज को शिक्षित और जागरूक भी करना होगा। जब हम शिक्षा की बात करते हैं तो हमारे सामने धार्मिक शिक्षा का प्रश्न खड़ा हो जाता है। निश्चय ही राज्याश्रय से कोई भी धार्मिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। ठीक इसी प्रकार किसी भी राजनीतिक दल को धर्माश्रय भी नहीं मिलना चाहिए। महात्मा गांधी ठीक ही कह गए—'मुझे अपने धर्म पर भरोसा है। मैं उसके लिए जान दे सकता हूं। पर वह मेरा निजी मामला है।' अतः हर धार्मिक को अपने धर्म की सामर्थ्य पर भरोसा होना चाहिए।

जहां तक सामाजिक जागरूकता का सवाल है, इसमें 'मीडिया' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। 'मीडिया' को इस रूप में सजग रहना जरूरी है कि उसके माध्यम से धार्मिक-सांप्रदायिक संकीर्णता, कठमुल्लापन या कि धर्मांधता की जड़ों का अभिसिंचन तो नहीं हो रहा? बृहत्तर सामाजिक हितों के लिए सरलता से प्राप्त होने वाले लाभों से 'मीडिया' को विमुख होना पड़ेगा। यह कठिन कार्य है—पर चाहे कानून से या अपनी ही आचार-संहिता के जरिए—इस पर नियंत्रण तो होना ही चाहिए। यद्यपि यह सच है कि किसी भी प्रकार के नियंत्रण से आने वाला सुधार या परिवर्तन स्थाई नहीं होता।

जब धर्म-संस्था, शिक्षा और 'मीडिया' की भूमिका संप्रदायवाद या सांप्रदायिकता प्रश्रय-मुक्त होगी, तभी राजनीति के खुले खेल रुकेंगे। राजनीति के नैतिक बने रहने में धर्म की ही भूमिका होती है। हर धर्म नैतिकता की बात करता है। अतः धार्मिक भिन्नता होते हुए भी नैतिकता के स्तर पर कोई भिन्नता नहीं, जिसकी राजनीति को आज सर्वाधिक जरूरत है। धर्म और राजनीति का संबंध इतना-भर रहना ही समाज के लिए श्रेयस्कर होगा।

—शुभू पटवा

विमर्श

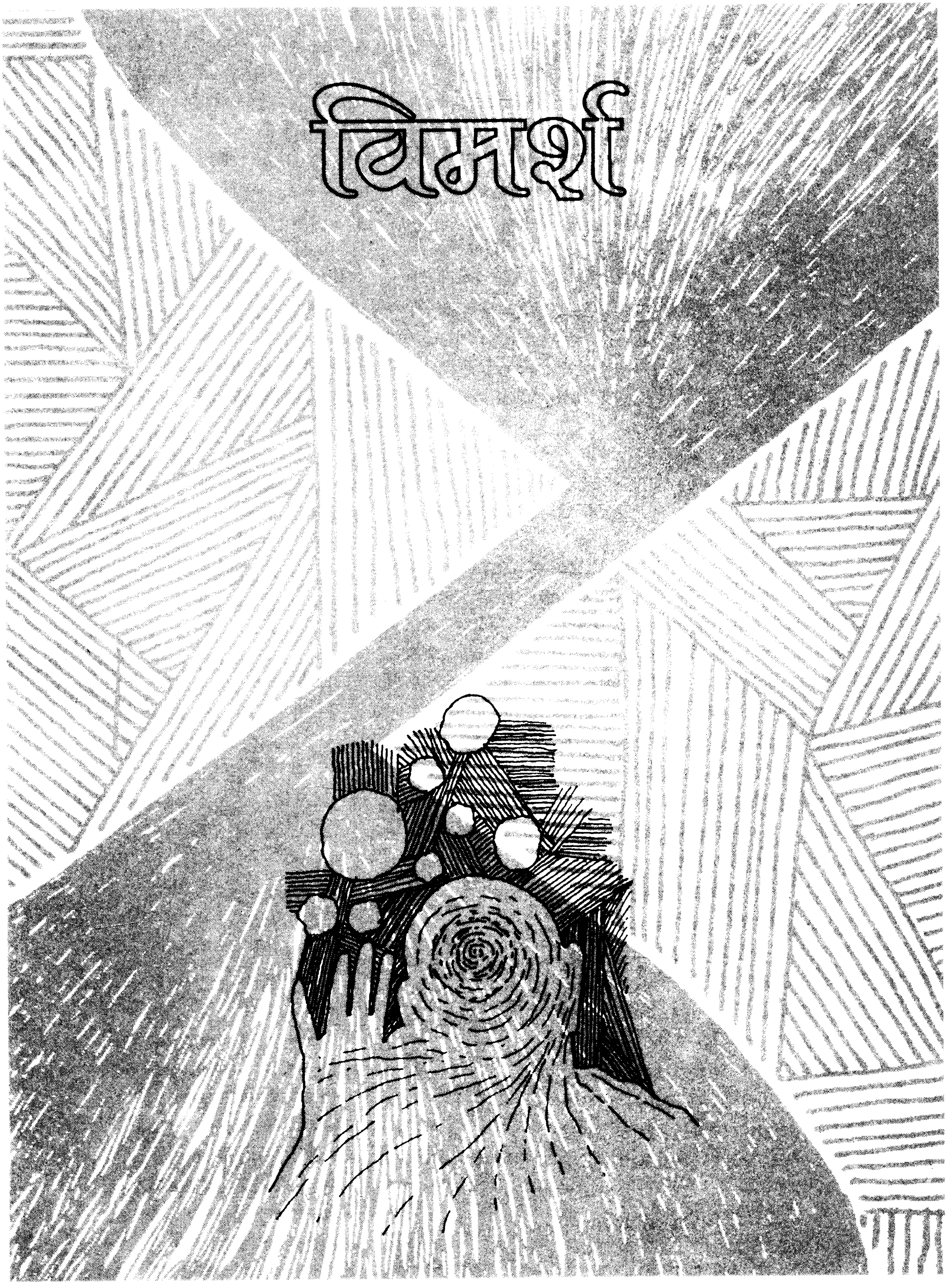

यदि हमने नैतिक अस्त्रों द्वारा उस भयंकर बुराई से युद्ध करने का निश्चय किया है तो हमें अपने विरोध के फलस्वरूप हानि तथा कष्ट उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। हमने अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए इसी पद्धति को अपनाया था। समय आ गया है कि हम समस्या का सीधा सामना करें। हमें यह घोषणा कर देनी चाहिए कि अणु-शक्ति संबंधी समस्त प्रवृत्तियां आक्रमण हैं, और अपने विश्वास की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए बहुमूल्य वस्तु का भी परित्याग करने के लिए तैयार होना चाहिए। यदि हमारी राष्ट्रीय विकास योजनाएं सफल होने वाली हैं तो केवल इन सहायताओं का परित्याग करने तथा परिणामस्वरूप पूर्ति में होने वाले विलंब के कारण वे असफल नहीं होंगी। संभव है, इस बलिदान से हमारी योजना के प्रचार को और भी आध्यात्मिक शक्ति मिले। उसका संबंध विश्व-हित तथा एक महान नैतिक प्रश्न के साथ जुड़ जाएगा।

—सी. राजगोपालाचारी

करणीय-अकरणीय : कर्मशास्त्रीय विमर्श

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

कुछ व्यक्ति जानते ही नहीं कि उन्हें क्या करना है। कुछ व्यक्ति जानते हैं, पर करने में समर्थ नहीं होते। कुछ व्यक्ति जानते तो हैं, किंतु सही-सहीं नहीं जानते कि क्या करणीय है। कुछ जो करणीय है, वह करते हैं, पर सही ढंग से नहीं कर पाते। इस प्रकार अनेक समस्याएं हैं और प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी समस्या का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएं क्यों हैं? इनका हेतु क्या है? कर्मशास्त्र में इन प्रश्नों पर विमर्श किया गया है और इनका समाधान भी दिया गया है।

ज्ञान की दूसरी शाखाएं, जो स्नायविक उत्तेजना तथा परिस्थिति के कारण मानवीय आचरण की व्याख्या करती हैं, वे शरीर से आगे जाती ही नहीं। यह उनका विषय भी नहीं है। उनका विषय शरीर से ही प्रतिबद्ध है।

मानस-शास्त्र में मनोविश्लेषण क्रिया और मानसिक समस्याओं के बारे में विचार किया गया है, उनका समाधान भी दिया गया है। किंतु वह समाधान परिस्थिति और परिस्थिति-जनित स्नायविक उत्तेजना—इन दो में समाहित हो जाता है। वह इन दो से आगे नहीं जाता। वह अवचेतन मन तक जाता है, किंतु अवचेतन मन में भी ऐसा क्यों होता है, इसका कोई सही समाधान प्राप्त नहीं होता।

> ‘
>
> *कर्म का एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए कर्म के व्यूह को तोड़ा जा सकता है। मोह का भी एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए मोह के चक्रव्यूह को भी तोड़ा जा सकता है। हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है—मोह कर्म। एक अज्ञान और एक मोह—ये प्रभावक बिंदु हैं जीवन के। ज्ञानावरण कर्म के कारण हम सही ज्ञान नहीं पाते। अंतराय कर्म के कारण हम शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते और दर्शनावरण कर्म के कारण हम सही देख नहीं पाते। इसी मोह कर्म के कारण जानते हुए भी, देखते हुए भी, शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते।*
>
> ’

कर्मशास्त्र ने इनके मूल कारणों पर विचार किया है। परिस्थितियों पर भी विचार किया है। उसने परिस्थितियों को अस्वीकार नहीं किया है, क्योंकि परिस्थितियां निमित्त बनती हैं। निमित्त को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु जो घटना घटित होती है, उसका मूल हेतु क्या है—इसके विमर्श में जब हम जाएं तो पता चलेगा कि प्रत्येक समस्या के पीछे किसी-न-किसी कर्म की कोई प्रेरणा है।

हम अज्ञान को लें। आदमी नहीं जानता। किसी कर्मशास्त्री से पूछो तो वह कहेगा—आदमी यह नहीं जानता। इसका मूल कारण है ज्ञानावरण कर्म का उदय। उस व्यक्ति की चेतना को ज्ञान का आवरण प्रभावित कर रहा है, इसलिए उसके ज्ञान का विकास नहीं हो पा रहा है।

मानस-शास्त्री कहेगा—इस व्यक्ति का मस्तिष्क विकसित नहीं है, इसलिए इसमें ज्ञान का विकास कम है। मानस-शास्त्री शरीर के आधार पर कारण ढूंढेगा और उन कारणों का विश्लेषण करेगा।

एक प्रश्न होता है कि मस्तिष्क विकसित क्यों नहीं हुआ? इसका भी कोई

कारण अवश्य होना चाहिए। कारण अवश्य है। वह कारण छिपा हुआ है—सूक्ष्म शरीर में। वह स्थूल शरीर में प्रकट नहीं है। उस व्यक्ति के ज्ञान के आवरण का इतना प्रबल उदय है कि ज्ञान का संवाहक अवयव बना ही नहीं या बना है तो अधूरा है। ज्ञानावरण के कारण ही मस्तिष्क विकसित नहीं हुआ है। अमनस्क जीवों (Non Vergetta) में पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क नहीं होते। समनस्क जीवों (Vergetta) के पृष्ठरज्जु और मस्तिष्क होते हैं। फिर भी उनका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण-वलय के तारतम्य के आधार पर वह तरतमतायुक्त होता है।

एक व्यक्ति जानता है—उसमें ज्ञान है। फिर भी वह कुछ भी करने में अपने को समर्थ नहीं पाता है। अपने आपको अकर्मण्य ही पाता है। कर्मशास्त्र कहेगा—इसका भी कारण है। वह कारण है—अंतराय कर्म का उदय। वह कर्म उस व्यक्ति की शक्ति को बाधित कर रहा है, उसे स्खलित कर रहा है। वह कर्म शक्ति का प्रतिघात कर रहा है। उसमें अवरोध उत्पन्न कर रहा है। वह उसकी कर्मजा शक्ति में सहयोग नहीं दे रहा है, बाधा पहुंचा रहा है।

दो प्रकार की क्षमता हैं—योग्यतात्मक क्षमता और क्रियात्मक क्षमता। योग्यतात्मक क्षमता आत्मा का गुण है। क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्मशास्त्र की भाषा में योग्यतात्मक क्षमता को 'लब्धिवीर्य' और क्रियात्मक क्षमता को 'करणवीर्य' कहा जाता है। जिस व्यक्ति में 'लब्धिवीर्य' नहीं होता, शक्ति का मूलतः विकास नहीं होता, वह कुछ कर ही नहीं पाता। वह कितना ही चाहे, कर नहीं सकता। जिस व्यक्ति में लब्धिवीर्य है, किंतु करणवीर्य नहीं है—क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो शक्ति की उपलब्धि होने पर भी वह कुछ नहीं कर पाता। जिसमें दोनों हैं, वही व्यक्ति कुछ कर पाता है।

कर्मशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण बिंदु को समझने के लिए हमें आत्मा और शरीर, मन और शरीर—दोनों के योग को ठीक से समझना होगा। मन का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का मन पर प्रभाव होता है। आत्मा का शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का आत्मा पर प्रभाव होता है। केवल आत्मा या केवल शरीर से वे सारे कार्य नहीं हो सकते जो हमारे व्यक्तित्व की व्याख्या करने वाले होते हैं। केवल आत्मा से वे ही कार्य निष्पन्न होते हैं जो आत्मा के मूलभूत कार्य हैं। वे हैं—चैतन्य का पूर्ण विकास, आनंद का पूर्ण विकास, शक्ति का पूर्ण विकास अर्थात् अनंत चैतन्य, अनंत आनंद और अनंत शक्ति की प्राप्ति। वह चैतन्य जिसका एक कण भी आवृत नहीं होता, वह आनंद जिसमें कभी विकार नहीं आता, जिसमें कभी शोक की लहर नहीं आती—वह अखंड आनंद, अव्याबाध आनंद। वह शक्ति जिसमें कोई बाधा नहीं होती, कोई स्खलना नहीं होती, कोई रुकावट नहीं होती। यह केवल आत्मा में ही हो सकता है। किंतु जहां शरीर है और शरीर के द्वारा जो चैतन्य प्रकट हो रहा है—वह अखंड नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाला आनंद भी अव्याबाध नहीं होगा। शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति भी अव्याहत नहीं होगी। माध्यम के द्वारा जो भी प्रकट होता है, वह कभी पूर्ण नहीं होता। माध्यम का अर्थ होता है—बैसाखी। अपने पैरों से चलने वाला व्यक्ति जिस शक्ति का अनुभव करता है, बैसाखी के सहारे चलने वाला व्यक्ति वैसी शक्ति का कभी अनुभव नहीं कर सकता। बैसाखी का सहारा तभी लेना पड़ता है, जब पैरों में शक्ति की कमी होती है। यदि पैरों में शक्ति हो तो बैसाखी निरर्थक है। मनुष्य माध्यम का सहारा तब लेता है जब पूरक की जरूरत होती है। आंखों की शक्ति न्यून होती है, तब चश्मा लगाना पड़ता है। वह शक्ति का पूरक होता है। देखने की शक्ति न्यून न हो तो चश्मा आवश्यक नहीं होता, माध्यम की आवश्यकता नहीं होती।

आत्मा की अभिव्यव्यक्ति का माध्यम है—शरीर। शरीर के माध्यम से ही आत्मा की शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति, आनंद की अभिव्यक्ति—ये सारी अभिव्यक्तियां शरीर के माध्यम से होती हैं।

चैतन्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं—इंद्रियां, मन और बुद्धि। आनंद की अभिव्यक्ति का माध्यम है—अनुभूति। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है—शरीर। हाथ, पैर आदि सारे अवयव शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इंद्रियां भी शक्ति की अभिव्यक्ति के मार्ग हैं। शक्ति के बिना कुछ भी नहीं होता। चैतन्य की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। आनंद की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। शक्ति का माध्यम सबके साथ जुड़ा हुआ है। सभी अभिव्यक्तियों का माध्यम है शरीर। इसीलिए मन से शरीर प्रभावित होता है और शरीर से मन प्रभावित होता है। चैतन्य का विकास हो, गया, किंतु इंद्रियां ठीक नहीं हैं, इंद्रियों का जो आकार बना है, इंद्रियों के जो गोलक बने हैं, स्वस्थ नहीं हैं, तो चैतन्य की शक्ति काम नहीं आएगी, उसका उपयोग नहीं हो पाएगा, वह अनुपयोगी ही बनी रहेगी। आनंद का विकास है, किंतु अभिव्यक्ति का माध्यम ठीक नहीं है तो वह कार्यकर नहीं होगा। शरीर भी ठीक होना चाहिए, इंद्रियों के गोलक स्वस्थ और सक्षम होने चाहिएं तभी उनमें शक्तियां

अभिव्यक्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। बिजली का प्रवाह निरंतर गतिशील है। यदि बल्ब ठीक है तो वह अभिव्यक्त हो जाएगी, प्रकाश फैल जाएगा। यदि बल्ब ठीक नहीं है तो बिजली रहते हुए भी उसमें अभिव्यक्त नहीं होगी, प्रकाश नहीं होगा, अंधेरा नहीं मिटेगा। माध्यम ठीक होना चाहिए तभी अभिव्यक्ति हो सकती है।

शरीर मन को प्रभावित करता है और मन शरीर को प्रभावित करता है। शरीर भी प्रभाव का निमित्त बनता है और मन भी प्रभाव का निमित्त बनता है। किंतु निमित्त का मूलस्रोत है—कर्म।

कुछ मानते हैं कि परिस्थिति के कारण ऐसा होता है, किंतु हमें उसमें अपवाद भी मिलते हैं। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि वातावरण शांत है, मन शांत है, कहीं कुछ गड़बड़ नहीं है, फिर भी मन में अचानक उदासी छा जाती है, मन चिंता से भर जाता है, वह शोकाकुल हो जाता है। कभी-कभी अचानक मन हर्ष से विभोर हो जाता है, मुस्कराहट फूट पड़ती है। यह सब सकारण हो तो बात समझ में आ सकती है। कोई हास्यास्पद घटना घटित हो और हंसी आ जाए या चिंता पैदा करने वाली घटना घटित हो और मन चिंता से भर जाए—यह बात समझ में आ सकती है, किंतु अकारण ही मन में हर्ष या विषाद पैदा हो—यह आश्चर्य में डाल देता है। जब हर्ष, विषाद, चिंता या शोक का कोई प्रत्यक्ष हेतु नहीं दीखता तब अचंभा होता है। कर्मशास्त्र ने इन अहेतुक आवेगों पर भी विचार किया और समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि निमित्तों के मिलने पर या परिस्थितियों के होने पर हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं, किंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब भय-वेदनीय कर्म का प्रबल उदय होता है और वे कर्म-परमाणु इतनी प्रबलता से उदय में आते हैं—शोक या चिंता पैदा हो जाती है। जब शोक-वेदनीय-कर्म के परमाणु तीव्रता से उदय में आते हैं तब बिना कारण ही मन में शोक छा जाता है। क्रोध-वेदनीय के प्रबल उदय से अकारण ही व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। इस प्रकार के क्रोध को 'अप्रतिष्ठित क्रोध' कहा गया है। अप्रतिष्ठित क्रोध का अर्थ है—अकारण उत्पन्न होने वाला क्रोध। उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, कारण नहीं है, निमित्त नहीं है। उसका हेतु केवल कर्म के उदय की प्रबलता मात्र है। क्रोध-वेदनीय के परमाणु एक साथ इतनी प्रबलता से उदय में आ गए कि व्यक्ति बैठे-बैठे ही गुस्से में आ गया। दैनंदिन के जीवन में हम ऐसी अवस्थाओं को आए दिन अनुभव करते हैं।

सब-कुछ सकारण ही नहीं होता, अकारण भी बहुत-कुछ होता है। अनेकांत की स्वीकृति के अनुसार प्रत्येक कार्य के पीछे बाह्य कारण की अनिवार्यता नहीं है। कहीं-कहीं कारण स्वगत भी होता है, अलग कारण नहीं भी होता। अर्थात् वहां कार्य और कारण दो नहीं होते। अचानक उभरने वाले क्रोध में कोई बाहरी कारण नहीं होता, उसका कारण स्वयं में समाहित है। क्रोध-वेदनीय का उदय ही क्रोध का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है, कोई परिस्थिति नहीं है, कोई निमित्त नहीं है। ऐसा भी घटित होता है।

कर्मशास्त्रीय व्याख्या के संदर्भ में हम परिस्थितिवाद को सार्वभौम सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। यह निमित्त का अस्वीकार नहीं है, परिस्थिति का अस्वीकार नहीं है। जैसी परिस्थिति होती है, व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। इस बात में सचाई है, किंतु पूरी सचाई नहीं है। जब हम सापेक्षवाद के आधार पर चिंतन करते हैं तो पूरी सचाई की बात किसी एक बात में हो ही नहीं सकती। वह सब अपूर्ण सत्य है। परिस्थितिवाद मिथ्या नहीं है। कर्मवाद में परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है। किंतु परिस्थिति ही सब-कुछ है, परिस्थिति ही व्यक्ति को निर्मित करती है, हमारा प्रत्येक आचरण या व्यवहार परिस्थिति से ही प्रभावित होकर घटित होता है—ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकांततः स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी तोड़ा नहीं जा सकता, वह कभी टूट नहीं सकता। वह आगे-से-आगे घूमता रहता है।

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस परिस्थिति के चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है? यह भी तो एक चक्र है। क्योंकि प्रत्येक घटना के पीछे यदि कर्म का हाथ है और हर घटना कर्म के द्वारा ही प्रभावित होकर घटित है तो फिर इस कर्म-चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है।

कर्म की स्वीकृति भी ऐकांतिक नहीं है। सब-कुछ कर्म से ही घटित होता है—यह स्वीकृति उचित नहीं है। सब-कुछ कर्म से नहीं होता। कुछ ऐसी भी स्थितियां हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं भी होतीं। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व कर्म से प्रभावित नहीं होता। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं होतीं।

एक व्यक्ति अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि से ग्रसित है। उसका मिथ्यादर्शन अनादि है। वह प्रत्येक तत्त्व को मिथ्यादृष्टि से देखता है। सत्य के प्रति उसकी दृष्टि सही नहीं है। जब अनादिकाल से ऐसा हो रहा है तो वह मिथ्यात्व

के चक्र को कैसे तोड़ पाएगा? किंतु आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जो पूर्णरूपेण कर्म से कभी प्रभावित नहीं होती। यदि कर्म का पूरा साम्राज्य भी हो जाए तो भी वह उसे कभी मिटा, नहीं सकता। उसे तोड़ नहीं पाता। कर्म का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य इसीलिए स्थापित होता है और तब तक चलता है, जब तक कि आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागृत न हो जाए, जानने का क्षण प्राप्त न हो जाए।

किसी भी राष्ट्र में विदेशी शासन तब तक चलता है, जब तक उस देश या राष्ट्र की जनता जागृत नहीं हो जाती। दुनिया के किसी भी राष्ट्र के इतिहास में यही हुआ है। विदेशी शासकों ने तब तक शासन किया जब तक कि वहां की जनता जाग न गई या वहां की जनता को जगाने वाला कोई व्यक्ति नहीं हो गया। जिस क्षण जनता जाग जाती है या जगाने वाला व्यक्ति, प्राण फूंकने वाला व्यक्ति प्राप्त हो जाता है तब विदेशी शासन चल नहीं सकता, उसकी जड़ें हिल जाती हैं, उसे अपनी सत्ता समेट लेनी पड़ती है।

काल की भी एक शक्ति है जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। एक काल आता है, एक समय आता है, एक क्षण आता है कि उस क्षण में, काललब्धि के कारण आत्मा सहज रूप में जाग जाती है। उसमें अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का भाव आ जाता है। उस क्षण में मिथ्यात्व का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य पहली बार हिल उठता है और धीरे-धीरे उसकी जड़ें टूटने लगती हैं।

यदि सब-कुछ ही कर्म के द्वारा निष्पन्न होता, कर्म की पूर्ण सत्ता होती, कर्म का सार्वभौम साम्राज्य होता तो कभी इस चक्र को नहीं तोड़ा जा सकता। हम इस बात को याद रखें कि यदि सब-कुछ परिस्थिति के द्वारा नहीं होता तो सब-कुछ कर्म के द्वारा भी नहीं होता। इस दुनिया में किसी को अखंड साम्राज्य या एकछत्र सत्ता प्राप्त नहीं है। सबके लिए अवकाश है। काललब्धि को भी अवकाश है। इसी काललब्धि के द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाएं घटित होती हैं।

हम एक घटना को समझें। यह घटना है—वनस्पति जीवों के अक्षयकोष से निकलकर विकासशील जगत में आना। प्राणी-जगत की दो राशियां हैं—एक है व्यवहार-राशि और दूसरी है अव्यवहार-राशि। अव्यवहार-राशि वनस्पति का वह खजाना है जो कभी समाप्त नहीं होता। उसमें अनंत-अनंत जीव रहते हैं। यह जो दृश्य जगत है, इसमें जितने भी जीव आते हैं, वे सब अव्यवहार-राशि से निकलकर आते हैं। अव्यवहार-राशि सूक्ष्म जीवों की राशि है। यह अक्षयकोष है। यह कभी समाप्त नहीं होता। अनंत काल में भी समाप्त नहीं होता।

दूसरी राशि है—व्यवहार-राशि। यह स्थूल प्राणियों का जगत है। जो भी कोई जीव मुक्त होता है, वह व्यवहार-राशि से मुक्त होता है। अव्यवहार-राशि में पड़ा हुआ जीव कभी मुक्त नहीं होता। वहां से मुक्ति की ओर कोई नहीं जाता। मुक्त होने के लिए उसे व्यवहार-राशि में आना ही पड़ता है। हमारे चैतन्य का जितना विकास होता है, वह व्यवहार-राशि में ही होता है। अव्यवहार-राशि में किसी का विकास नहीं होता। वहां केवल एक इंद्रिय—एकमात्र स्पर्शनेंद्रिय होती है। वे सब वनस्पति-जीव होते हैं। वनस्पति के जीवों का यह अनंत कोष है। इससे जीव निकलते हैं, पर यह कभी खाली नहीं होता। यहां केवल एक इंद्रिय की चेतना का विकास ही होता है। आगे विकास नहीं होता। न मन का विकास, न दूसरी इंद्रियों का विकास और न बुद्धि का विकास। कोई विकास नहीं। केवल स्पर्शन-इंद्रिय—त्वचा का विकास, प्रगाढ़ मूर्च्छा, प्रगाढ़ निद्रा। जो चैतन्य प्राप्त है, उसका सूचक है—स्पर्शन-इंद्रिय और कुछ भी नहीं।

इस अव्यवहार-राशि से कुछ जीव व्यवहार-राशि में आते रहते हैं। क्यों आते हैं—यह एक प्रश्न है। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो वे वहां से निकल ही नहीं पाते। किंतु काललब्धि, काल की शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलकर व्यवहार-राशि में आ जाते हैं। काल की शक्ति असीम होती है। उसी शक्ति के आधार पर वे वहां से निकलते हैं। यदि कर्म के आधार पर निकलते तो जैसे दस जीव निकलते हैं, वैसे ही सौ, हजार जीव भी निकल जाते हैं। लाख और करोड़ भी निकल आते हैं। अनंत भी निकल आते हैं। किंतु वे कर्म की शक्ति से नहीं निकलते। वे निकलते हैं काल ही शक्ति से, काललब्धि से।

व्यवहार-राशि के जीवों की दो श्रेणियां हैं—एक है कृष्णपक्ष और दूसरी है शुक्लपक्ष। कुछ जीव हैं कृष्णपक्ष वाले और कुछ जीव हैं शुक्लपक्ष वाले। जैसे चंद्रमा के दो पक्ष होते हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद, वैसे ही हमारे जीवन के भी दो पक्ष हैं—कृष्ण और शुक्ल, काला और सफेद। कृष्णपक्ष हमारे अनिष्ट कर्मों का सूचक है, अनिष्ट वातावरण का सूचक है, तामस वृत्तियों का सूचक है। शुक्लपक्ष हमारे विकास का सूचक है, बंधनमुक्ति की ओर अग्रसर होने का सूचक है।

जो व्यक्ति कृष्णपक्ष में है, वह आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास वही व्यक्ति कर सकता है, जो शुक्लपक्ष में है। उसका जो वातावरण है, जो 'ओरा' (Aura) है, आभा-मंडल है, पर्यावरण है—वह शुक्ल हो जाता है। उस व्यक्ति के आस-पास शुक्लता का

वातावरण छा जाता है। वह व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है। उसका विकास प्रारंभ हो जाता है।

एक प्रश्न उभरता है कि कोई भी जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में क्यों आता है? कैसे आता है? इसका कोई हेतु नहीं है। कर्म एकमात्र कारण नहीं है। कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आने का हेतु है—काललब्धि। काल की शक्ति में ऐसा होता है।

जैसे परिस्थिति की एक शक्ति है, वैसे काल की भी शक्ति है। इसी प्रकार स्वभाव की भी एक शक्ति होती है। आध्यात्मिक विकास के बीज प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं। किंतु कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास का स्वभाव ही नहीं होता। उनमें चैतन्य तो होता है, चैतन्य के विशिष्ट विकास की क्षमता उनमें नहीं होती। आप पूछ सकते हैं कि क्यों नहीं होती? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है। कर्मशास्त्र की व्याख्या में इसका कोई समाधान नहीं है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है, एक ही समाधान हो सकता है कि उन जीवों का स्वभाव ही ऐसा है कि चैतन्य का विकास नहीं कर पाते। उनमें चैतन्य का विकास नहीं होता। यह स्वभाव की शक्ति का उदाहरण है। जैसे काल की अपनी शक्ति है, वैसे ही स्वभाव की अपनी शक्ति है। जैसे परिस्थिति की अपनी शक्ति है, वैसे ही कर्म की शक्ति है।

हम इस धारणा को निकाल दें कि जो-कुछ होता है वह सब कर्म से ही होता है। कर्म की ही सार्वभौमता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। सच यह है कि सब-कुछ कर्म से नहीं होता। जो घटनाएं कर्म से होने योग्य होती हैं, कर्म की सीमा में आती हैं—वे ही कर्म के द्वारा घटित होती हैं। सब घटनाएं कर्म के द्वारा घटित नहीं होतीं। आज एक ऐसा स्वर चल पड़ा है कि—'भई! क्या करें, ऐसे ही कर्म किए थे, कर्म का ऐसा ही योग था।' हर घटित घटना के लिए, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, अच्छी हो या बुरी—हम यही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि कर्म के कारण ही ऐसा घटित हुआ है, कर्म का ही प्रताप है, प्रभाव है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। यह भ्रांति है, बहुत बड़ा भ्रम है। हम किसी के हाथ में एकाधिकार न सौंपें। प्रकृति के साम्राज्य में अधिनायकतावाद नहीं है। जागतिक नियम में कोई अधिनायक नहीं होता, कोई अधिनियन्ता नहीं होता। वहां किसी को एकाधिकार प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियां काल में निहित हैं, कुछ स्वभाव में, कुछ परिस्थिति में और कुछ कर्म में। कुछ शक्तियां हमारे अपने पुरुषार्थ में निहित हैं।

इस पुरुषार्थ में कर्म को बदल देने की शक्ति होती है। हमारी शक्ति का प्रतीक है पुरुषार्थ। हमारी क्षमता का प्रतीक है पुरुषार्थ। हम इसके द्वारा कर्म को भी बदल डालते हैं। कर्मशास्त्र का यह भी एक नियम है कि कर्मों को बदला जा सकता है। एकाधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। यहां सबका मिला-जुला अधिकार है। एकाधिकार नहीं है—बंटे हुए हैं सारे अधिकार।

यदि कर्म ही सब-कुछ होता, कर्म को ही एकाधिकार प्राप्त होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में नहीं आता, अविकसित प्राणियों की श्रेणी से विकसित प्राणियों की श्रेणी में नहीं आता। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो साधना की अयोग्य स्थिति से या अपनी अविकसित चैतन्य की भूमिका से आध्यात्मिक चेतना की विकसित भूमिका में नहीं आता। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो प्राणी बंधन को तोड़कर कभी मुक्त नहीं होता। कर्म ही सब-कुछ नहीं है। कर्म के अतिरिक्त भी अनेक तथ्य हैं, जो अपनी-अपनी सीमा में कार्यकारी होते हैं।

अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में आना, अविकास से विकास की ओर बढ़ना, चैतन्य की अविकसित भूमिका से ऊर्ध्वारोहण कर विकसित चैतन्य की भूमिका को प्राप्त करना, बंधन को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण से अनावरण की ओर बढ़ना, परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता को प्राप्त करना—तभी संभव है जब काललब्धि का पूरा परिपाक हो जाता है। अन्यथा प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है कि जब सौ व्यक्ति मुक्त हो सकते हैं तो सब मुक्त क्यों नहीं हो सकते? सब मुक्त हो सकते हैं, मुक्त होने का सबको अधिकार है, किंतु सब मुक्त नहीं हो सकते, जिनकी काललब्धि पक चुकी है, वे ही मुक्त हो पाते हैं। शेष काललब्धि के परिपाक की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसमें सब-कुछ पुरुषार्थ से होता है—ऐसा भी नहीं। सब-कुछ कर्म से होता है—ऐसा भी नहीं।

कर्म का एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए कर्म के व्यूह को तोड़ा जा सकता है। मोह का भी एकछत्र साम्राज्य नहीं है, इसीलिए मोह के चक्रव्यूह को भी तोड़ा जा सकता है। हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है—मोह कर्म। एक अज्ञान और एक मोह—ये प्रभावक बिंदु हैं जीवन के। ज्ञानावरण कर्म के कारण हम सही जान नहीं पाते। अंतराय कर्म के कारण हम शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते और दर्शनावरण कर्म के कारण हम सही देख नहीं पाते। इसी मोह कर्म के कारण जानते हुए भी, देखते हुए भी,

शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए भी सही-सही आचरण नहीं कर पाते।

दृष्टि में कोई विकार उत्पन्न करता है तो वह मोह कर्म करता है। आचरण की विकृति मोह कर्म के कारण होती है। मोह कर्म केंद्रीय कर्म है। आगम सूत्रों में इसे सेनापति की संज्ञा दी गई है। जैसे सेनापति के मर जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह कर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे कर्म भी टूट जाते हैं। मोह को सहयोग देने वाले दो तथ्य हैं। एक है—ममकार और दूसरा है अहंकार।

अनात्मीय वस्तुओं में आत्मीयता का अभिनिवेश ममकार है। जो आत्मीय नहीं है, उसमें आत्मीयता का भाव रखना ममकार है। जैसे शरीर मेरा, पिता मेरा, माता मेरी, भाई मेरा, बहन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा आदि-आदि। सबसे पहले ममकार होता है—शरीर के प्रति। यह सबसे निकट का है। फिर पिता, माता आदि के प्रति ममकार होता है। ये दूसरी श्रेणी में हैं। तीसरे में घर मेरा, नौकर मेरा, धन मेरा, हाथी मेरा, ऊंट मेरा, घोड़ा मेरा। इनमें ममकार होता है। यह ममकार बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है, इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो जाती है कि इसमें हजारों-हजारों वस्तुएं आ जाती हैं। सीमा के विस्तार का कहीं अंत नहीं आता।

कर्म आदि कारणों से प्राप्त अवस्थाओं को 'मैं' मान लेना अहंकार है। जो 'मैं' नहीं है, आत्मा नहीं है, उसे आत्मा मान लेना अहंकार है। जैसे अनात्मीय को आत्मीय मान लेना 'ममकार' है, वैसे ही अनात्म को आत्म मान लेना 'अहंकार' है। जैसे—मैं धनी हूं। अब 'धन' कौन और 'मैं' कौन? जो आत्मीय नहीं, उसे आत्मीय मान लिया। ये सारी अवस्थाएं वैभाविक हैं, अनेक कारणों से उत्पन्न हैं। हम कभी कहते हैं—'मैं रोगी हूं' और कभी कहते हैं—'मैं स्वस्थ हूं।' यह रोगी होना भी 'मैं' नहीं है और स्वस्थ होना भी 'मैं' नहीं है। प्रसन्न होना भी 'मैं' नहीं है और रुष्ट होना भी 'मैं' नहीं है। मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं, मैं प्रसन्न हूं, मैं अप्रसन्न हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं बड़ा हूं, मैं छोटा हूं—ये सब अहंकार हैं। आत्मा जो है—वह न बड़ा है और न छोटा। न रोगी है और न स्वस्थ। न प्रसन्न है और न अप्रसन्न। न सुखी है और न दुखी। फिर भी अहंकार के कारण ये सब-कुछ आरोपण चलते हैं। दृष्टिकोण और आचरण—दोनों में विकृति के बीज अंकुरित होते रहते हैं। ❖

दिखावे का दान

हजरत उमर के जमाने की बात है। एक बार उनके शहर में आग लग गई। आग इतने जोरों की थी कि उसने शहर का बहुत बड़ा हिस्सा जला डाला। पानी से भी वह नहीं बुझी।

अंत में हैरान होकर प्रजा के कुछ लोग बादशाह के पास आए और उनसे कहा कि आग किसी प्रकार भी नहीं बुझती।

उमर ने कहा, 'यह आग खुदा की नाराजी की निशानी है। यह तुम्हारी कंजूसी की आग का शोला है, इसलिए पानी रहने दो और रोटी बांटना शुरू कर दो।'

जनता ने कहा, 'हमने पहले से ही खैरातखाने का दरवाजा खोल रखा है और जो भी आता है, उसके साथ बड़ी उदारता का व्यवहार करते हैं।'

हजरत उमर बोले, 'तुम जो दान करते हो, वह निष्काम भावना से नहीं करते। तुम चाहते हो कि बड़ाई मिले, इज्जत मिले। जो आदमी दिखावे के लिए दान देता है, उसके दान की कोई कीमत नहीं।'

—यशपाल जैन
के संकलन से

क्रिया और कर्म : सिक्के के दो पहलू

❑ साध्वी गवेषणाश्री

क्रिया और कर्म का संबंध सनातन है। क्रिया का उद्भव कर्म है। कर्म क्रिया का उपजीवी है। क्रिया के अभाव में कर्म का अस्तित्व संभव ही नहीं है। मनुष्य प्रवृत्ति बहुल है। प्रवृत्ति का पर्याय क्रिया है। जहां क्रिया है वहां प्रतिक्रिया है। क्रिया की प्रतिक्रिया ही कर्म है।

कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्ता स्वयं व्यक्ति है। परिणाम उसकी कृति है जो प्रतिक्रिया के रूप में प्रत्यक्ष होती है। प्रवृत्ति के अनुसार कर्म की विभिन्न अवस्थाएं हैं। जैन कर्म-शास्त्र में उन्हें दस भागों में विभक्त किया गया है।

कर्मों की दस अवस्थाएं :

कर्मबंध और उदय के बीच कितनी ही अवस्थाएं घटित होती हैं। वे किस सीमा तक आत्म-स्वातंत्र्य को कुंठित या अभिव्यक्त करती है, इस संबंध में काफी चिंतन हुआ है। उदय, उदीरणा आदि दस अवस्थाएं कर्म-सिद्धांत के विकास की सूचक हैं[1] गोम्मटसार में दस अवस्थाओं को दस करण की संज्ञा दी गई है। जीव के शुभाशुभ आदि परिणामों की करण संज्ञा है।[2] दस अवस्थाएं निम्नानुसार हैं—

1. बंध, 2. सत्ता, 3. उदय, 4. उदीरणा, 5. उद्वर्तना, 6. अपवर्तना, 7. संक्रमण, 8. उपशम, 9. निधत्ति और 10. निकाचना[3]।

> ‘
>
> *कर्मवाद के अनेक नियम हैं, अनेक रहस्य हैं। कर्मवाद का नियम है—शक्ति का अल्पीकरण या संवर्धन—दोनों किए जा सकते हैं। यह शक्ति-परिवर्तन का सिद्धांत संक्रमण से स्पष्ट है। पूर्वोपार्जित कर्मों में सदैव परिवर्तन की प्रक्रिया चालू है। सामान्यतः कोई भी बंधा हुआ कर्म एक क्षण भी यथावत् नहीं रहता।*
>
> *जाति-परिवर्तन का सिद्धांत भी मौलिक है। कर्म की जाति का रूपांतरण भी मननीय है। बंधकाल में कर्म के परमाणु एक प्रकार के होते हैं, पश्चात् उन परमाणुओं की जाति बदल जाती है। आज नस्ल-परिवर्तन का सिद्धांत इसकी पुष्टि है।*
>
> ’

बंध : बंध का सामान्य अर्थ है—संश्लेष। जैनेंद्र सिद्धांत कोश में कहा गया है—अनेक पदार्थों का मिलकर एक हो जाना बंध है। उमास्वाति के शब्दों में—कषाय भाव के कारण जीव का कर्म-पुद्गल से आक्रांत हो जाना ही बंध है।[4] आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका में लिखा है—‘कर्म पुद्गलों के ग्रहण को बंध कहा है। बंध अर्थात् जीव के द्वारा कर्म पुद्गलों का ग्रहण—नीर-क्षीर की भांति परस्पर आश्लेष होता है, उसे बंध कहा जाता है।[5] बंधन यानी आत्मा का अनात्मा से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग है। इस अर्थ में कर्म बंध के तीन बिंदु प्राप्त होते हैं—

1. **जीव बंध** : जीव की पर्याय भूत रागादि प्रवृत्तियां, जो उसे संसार के साथ बांधती हैं!
2. **अजीव बंध** : परमाणुओं में विद्यमान स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श आदि परमाणु स्कंध बनाते हैं।
3. **उभय बंध** : जीव के प्रदेशों के साथ होने वाला कर्म परमाणुओं का संबंध!

उक्त तीन बिंदुओं द्वारा कर्म बंध की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। आत्मा और कर्म का जो परस्पर संबंध है, वही बंध है अथवा आत्मा और कर्म का एकीभाव ही बंध है!

सत्ता : 'अबाधाकालो विद्यमानता च सत्ता' अबाधाकाल और विद्यमानता को सत्ता कहते हैं! अर्थात् कर्म बंध और उसके विपाक से पूर्व बीच की अवस्था सत्ता है। सत्ताकाल में कर्म अस्तित्व में रहते हैं, किंतु उनका कर्तव्य प्रकट नहीं होता। प्रत्येक कर्म अपने सत्ताकाल के समाप्त होने पर ही फल देता है। काल-मर्यादा परिपक्व न होने तक धाय संग्रह के समान उनका अस्तित्व ही सत्ता कहलाता है! आठ कर्मों की 148 प्रकृतियां सत्ता रूप रहती हैं।

उदय : कर्म के विपाक को उदय कहा है।[6] पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म परिपक्व दशा को प्राप्त कर फल देने लगते हैं। यही उदयावस्था है! कर्मों का उदय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा रखता है। उदय दो प्रकार के हैं— प्रदेशोदय, विपाकोदय। अपनी फलानुभूति करवाए बिना जो कर्म परमाणु आत्मा से निर्जरित हो जाते हैं वह प्रदेशोदय है। जिसमें फल की अनुभूति होती है वह विपाकोदय है। ज्ञातव्य यह है कि विपाकोदय में प्रदेशोदय नियमतः रहता है। किंतु प्रदेशोदय में विपाकोदय की अनिवार्यता नहीं है।

उदीरणा : नियतकाल से पूर्व ही प्रयत्नपूर्वक उदय में लाकर कर्मों के फल को भोग लेना उदीरणा है[7]। उदीरणा किस कर्म की होती है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—जिस कर्म-प्रकृति का उदय चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्म-प्रकृति की उदीरणा संभव है।[8] उदीरणा नाम 'अपक्व-पाचन' का है। दीर्घकाल पीछे उदय आने योग्य अग्रिम निषेकों को अपकर्षण करके अल्प-स्थिति वाले अधस्तन निषेकों में या उदयावली में देकर उदयमुख रूप से उनकी अनुभूति करने पर कर्म-स्कंध कर्म का स्वरूप विसर्जन कर अन्य पुद्गल रूप से परिणमन कर जाता है। कर्मों का भोगकाल उदय है। अपक्व कर्मों के पाचन को उदीरणा कहते हैं।

उद्वर्तना : स्थिति और अनुभाग की वृद्धि को उद्वर्तना कहते हैं।[9] इसमें कर्म-स्थिति की दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।[10] यह नवीन कर्मबंध के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मंदता पर आधारित है।

अपवर्तना : बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय-विशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है। धवला में कहा है—कर्म प्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम अपकर्षण है[11] उद्वर्तना-अपवर्तना की विवेचना से इस धारणा का निरसन हो जाता है कि स्थिति एवं अनुभाग में परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रयत्न-विशेष और अध्यवसाय की शुद्धता-अशुद्धता से उनमें परिवर्तन होता रहता है।

संक्रमण : 'सजातीय प्रकृतीनां मिथः परिवर्तनम् संक्रमणा।'[12]

सजातीय प्रकृतियों का आपस में परिवर्तन होता है, उसे संक्रमण कहते हैं। संक्रमण का अर्थ है—परिवर्तन। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंच जाना संक्रमण है। जिस अध्यवसाय से जीव कर्म प्रकृति का बंध करता है, उसकी तीव्रता के कारण पूर्व बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रांत कर देता है, वह संक्रमण है।[13] एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाना क्षेत्र-संक्रमण है। एक ऋतु के बाद दूसरी का आना काल-संक्रमण है! इसी तरह कर्म-जगत में भी संक्रमण होता है। इसका सामान्य नियम यह है कि संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों में ही होता है। अन्य उत्तर प्रकृतियों में नहीं। सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण माना है। विजातीय प्रकृतियों में नहीं। अपवाद यह है—आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियों, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय तथा दर्शन मोहनीय की तीन उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण संभव नहीं। पूर्वबद्ध कर्म प्रकृतियों का संक्रमण, वर्तमान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में हो सकता है। संक्रमण के चार प्रकार हैं : 1. प्रकृति-संक्रमण, 2. स्थिति-संक्रमण, 3. अनुभाग-संक्रमण, 4. प्रदेश-संक्रमण।

प्रकृति-संक्रमण : कर्म की किसी प्रकृति का अन्य प्रकृति में परिवर्तन प्रकृति-संक्रमण है। कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में परस्पर रूपांतरण नहीं होता। प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों में—वह भी सजातीय में—यह ध्रुव नियम है। जैसे मति ज्ञानावरणीय का श्रुत ज्ञानावरणीय में संक्रमण संभव है, किंतु दर्शनावरण की प्रकृति में नहीं। मति ज्ञानावरणीय का श्रुत ज्ञानावरणीय में परिवर्तन होने पर उसका फल भी श्रुत ज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

स्थिति-संक्रमण : कर्मों की स्थिति में परिवर्तन स्थिति-संक्रमण है। स्थिति का कम या ज्यादा होना, अपवर्तना-उद्वर्तना है। यह भी समान जातीय में ही संभव है।

अनुभाग-संक्रमण : बंधकालीन रस में भी अंतर हो सकता है। तीव्र रस मंद में, मंद रस तीव्र में बदल जाता है।

प्रदेश-संक्रमण : इसका विधान है कि जिस प्रकृति का जहां तक बंध होता है, उस प्रकृति रूप अन्य प्रकृति का संक्रमण वहीं तक होता है। जैसे असातावेदनीय का बंध छठे गुणस्थान तक है। सातावेदनीय का तेरहवें गुणस्थान तक। साता वेदनीय का असातावेदनीय में संक्रमण छठे में तथा असातावेदनीय का सातावेदनीय में रूपांतरण तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। बंध के ये चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म-व्यवस्था के ये प्रधान अंग हैं।

दल संचय प्रदेश : दल संचय क़र्म पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव को कहते हैं। सबसे पहला स्थान प्रदेश-बंध का है। तत्पश्चात् स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फल-शक्ति का निर्माण है। पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण में विभक्त हो जाता है। यह परिमाण विभाग ही प्रदेश-बंध है।

संक्रमण की यह प्रक्रिया प्राकृतिक विधान से प्राणी मात्र में स्वयं अपने ही परिणाम, कार्य-कारण के अनुसार घटित होती रहती है। यह सारी प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक एवं मानव मात्र के लिए अत्यंत उपयोगी है।

कर्मवाद के अनेक नियम हैं, अनेक रहस्य हैं। कर्मवाद का नियम है—शक्ति का अल्पीकरण या संवर्धन—दोनों किए जा सकते हैं। यह शक्ति-परिवर्तन का सिद्धांत संक्रमण से स्पष्ट है। पूर्वोपार्जित कर्मों में सदैव परिवर्तन की प्रक्रिया चालू है। सामान्यतः कोई भी बंधा हुआ कर्म एक क्षण भी यथावत् नहीं रहता।

जाति-परिवर्तन का सिद्धांत भी मौलिक है। कर्म की जाति का रूपांतरण भी मननीय है। बंधकाल में कर्म के परमाणु एक प्रकार के होते हैं, पश्चात् उन परमाणुओं की जाति बदल जाती है। आज नस्ल-परिवर्तन का सिद्धांत इसकी पुष्टि है।

आधुनिक जीवविज्ञान की नई अवधारणाएं और मान्यताएं संक्रमण सिद्धांत की उपजीवी हैं। 'जीन्स' को बदलकर पूरी पीढ़ी का कायाकल्प किया जा सकता है।

संक्रमण का सिद्धांत पुरुषार्थ का सिद्धांत है। संचित पुण्य बुरे पुरुषार्थ से पाप में और संचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य में बदल जाते हैं। सारा दायित्व कर्तृत्व का है। पुरुषार्थ का है।

स्थानांग सूत्र की चौभंगी इसी का संकेत है :

'कुछ कर्म शुभ होते हैं उनका विपाक भी शुभ होता है।

कुछ कर्म शुभ होते हैं उनका विपाक अशुभ होता है।

कुछ कर्म अशुभ होते हैं पर उनका विपाक शुभ होता है।

कुछ कर्म अशुभ होते हैं और उनका विपाक भी अशुभ होता है॥'[14]

शुभ-अशुभ पुरुषार्थ के फलस्वरूप उपभोग करता है, अर्थात् अतीत का पुरुषार्थ, वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य का भाग्य रूप परिणमन करता है।

पुण्य का फल पुण्य एवं पाप का फल पाप—ये दो विकल्प निर्विवाद हैं, सहज बुद्धिगम्य हो जाते हैं, किंतु पुण्य का विपाक पाप और पाप का विपाक पुण्य, ये दो विकल्प जटिल हैं। प्रश्न सहज है, क्या ऐसा संभव है?

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अभिमत से संभव है। उन्होंने लिखा—'जाति परिवर्तन कर्मवाद का बहुत बड़ा रहस्य है। इसके आधार पर परिवर्तन का सिद्धांत निस्संदेह सत्य है, पुण्य बंध होता है! इसमें सारा कर्म-परमाणु संचय पुण्य से जुड़ा हुआ है। किंतु बाद में ऐसा सबल पुरुषार्थ किया जिससे उस संग्रह का जात्यांतर हो गया, जो परमाणु पुण्य के थे वे पाप के हो गए। सुख के हेतु, वे ही दुख के निमित्त बन गए। इसी प्रकार पुरुषार्थ से पाप के परमाणु पुण्य में जात्यांतर हो गए। जात्यांतर का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।'[15]

इन कर्मशास्त्रीय रहस्यों के उद्घाटन की अपेक्षा है। कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, सभी विषयों पर गहन चिंतन और दर्शन मिलता है। कर्मशास्त्र पर बड़े-बड़े ग्रंथों का प्रणयन हुआ है। फिर भी गहन तथ्यों का विश्लेषण दुर्लभ है।

मनोविज्ञान और मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन : व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास मूल प्रवृत्तियों के रूपांतरण[16] पर निर्भर है। मनोवैज्ञानिकों ने परिवर्तन की चार पद्धतियों का निरूपण किया है।

क. अवदमन (Repression), ख. विलयन (Inhibition), ग. मार्गांतरीकरण (Redirection), घ. शोधन या उदात्तीकरण (Sublimation)

क. अवदमन : मूल प्रवृत्तियों का दमन करना स्वाभाविक जल-प्रवाह पर बांध बांधने जैसा है। कड़े अनुशासन या नियंत्रण से व्यक्ति में अनेक प्रतिक्रियात्मक

भाव-ग्रंथियां उत्पन्न हो जाती हैं। मनोविज्ञान दमन की पद्धति स्वीकार नहीं करता, कर्मशास्त्र में मान्य है। दमन की पद्धति अस्वीकार नहीं कर सकते, किंतु यह लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाती।

ख. विलयन : प्रवृत्ति को उत्तेजित होने से रोक देना। एक पक्ष को परास्त करने के लिए प्रतिपक्ष को खड़ा करना होता है। अशुभ भावना को शुभ भावना से रूपांतरित किया जा सकता है। दशवैकालिक सूत्र[17] में चार आवेगों की प्रतिपक्षी भावना का सुंदर चित्रण है—क्रोध के भाव को नष्ट करना है तो क्षमा के संस्कार पुष्ट करना होता है। अभिमान के विपक्ष में विनम्रता, माया के विपक्ष में आर्जव, लोभ के विपक्ष में संतोष का प्रतिपादन है।

ग. मार्गांतरीकरण का अर्थ है रास्ता बदल देना। मनोविज्ञान की भाषा में इसे मार्गांतरीकरण कहें या उदात्तीकरण। इस प्रक्रिया में दोषों का उपशमन एवं क्षय साथ-साथ चलता है। परिष्कृत करना इसका लक्ष्य है।

घ. शोधन या उदात्तीकरण : इस प्रक्रिया में आवेगों को पूर्ण क्षीण कर दिया जाता है। व्यक्ति में आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है। आवेगों का उपशमन, क्षयोपशम और क्षय होता है। मानस-शास्त्र की भाषा में दमन, शमन, मार्गांतरीकरण, उदात्तीकरण या शोधन आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

आवेगों का शमन हो, यह तथ्य दोनों शास्त्रों को स्वीकृत है। कर्मशास्त्र और मानस-शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में काफी साम्य है।

संक्रमकरण : 'जीन' को बदलने का सिद्धांत—संक्रमण से 'जीन' को बदलकर पूरे व्यक्तित्व का परिवर्तन किया जा सकता है।[18] यह बदलने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से समूची चेतना को नए रूप में प्रस्थापित कर सकते हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में तीन आयाम महत्त्वपूर्ण हैं—[18] आनुवंशिकता, पर्यावरण और व्यक्तिगत संस्कार। किंतु केवल इन आयामों से व्यक्ति के व्यक्तित्व की समग्र व्याख्या नहीं की जा सकती। आनुवंशिकता आचरण और व्यवहार पर अपना प्रभाव छोड़ती है। पर्यावरण भी प्रभावित होता है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बिंदु है—'जीन्स'। 'जीन' के सिद्धांत की तुलना यदि कर्मशास्त्र से की जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त हो जाता है। आनुवंशिकता का संबंध जीवन से है, वैसे ही कर्म का संबंध जीव से है। उससे अनेक जन्म की प्रतिक्रियाएं संचित होती हैं।

उपशम : कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना उपशम है। उपशम में कर्मों की सत्ता समाप्त नहीं होती, उनकी शक्ति को दबा दिया जाता है जिससे राख से दबी अग्नि की तरह निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

निधत्ति : निधत्ति वह अवस्था है जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है। किंतु इस अवस्था में उद्वर्तना तथा अपवर्तना की संभावना रहती है। कर्मों का समय, मर्यादा और अनुभाग न्यूनाधिक हो सकता है।

निकाचना : इसमें कर्मों का बंधन इतना प्रगाढ़ होता है कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। निकाचना की स्थिति में उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण एवं उदीरणा—चारों अवस्थाओं का अभाव है। आचार्यश्री तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका में लिखा है—सब करणों के अयोग्य अवस्था को निकाचना कहते हैं।[19]

वैदिक परंपरा की क्रियमाण, संचित, प्रारब्ध अवस्थाएं जैनदर्शन में वर्णित क्रमशः बंध, सत्ता और उदय के समानार्थक हैं। बौद्ध दर्शन में नियत-विपाकी, सातिक्रमण अवस्थाएं जैन दर्शन की निकाचना के लिए प्रयोग की जाती हैं। कर्म-फल के संक्रमण की धारणा भी स्वीकार की है। बौद्ध दर्शन कहता है कि कर्मफल का नाश नहीं होता, किंतु कर्मफल का सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है। बौद्ध कर्म-विचारणा में जनक, उपस्थापक, उपपीलक और उपघातक—ऐसे कर्म चार हैं।

कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग-नियंत्रण की तीन पद्धतियां हैं—उपशम, क्षयोपशम, क्षयीकरण।[20]

क. उपशम : कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए निष्क्रिय कर देना उपशम है।[21] मनोविज्ञान में इसे दमन कहा है। मन में जो आवेग आया, उसे दबा दिया। दमन की पद्धत्ति को अस्वीकार नहीं कर सकते, किंतु वह व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाती।[22]

ख. क्षयोपशम : क्षयोपशम का अर्थ है—कुछ दोषों का उपशमन और कुछ का क्षीण हो जाना। इसमें उपशम और क्षय साथ-साथ रहते हैं। कर्मों का एक देश क्षय तथा एक देश उपशम होना क्षयोपशम है। मनोविज्ञान में मार्गांतरीकरण की पद्धति परिमार्जन की है।

ग. क्षयीकरण : इसमें उपशम नहीं, केवल क्षीण

> कर देना है। इससे आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है। कर्मों के संपूर्ण क्षय से अतींद्रिय आनंद प्रकट होता है वह क्षायिक भाव कहलाता है।[23]

निष्कर्ष की भाषा में कह सकते हैं कि कर्मशास्त्र के गंभीर अध्ययन के बिना अध्यात्म की गहराइयों को समझ पाना संभव नहीं हैं।

मनुष्य जो भी प्रवृत्ति करता है। उसमें केवल वर्तमान परिवेश, परिस्थिति का ही योग नहीं होता, अति सूक्ष्म जगत में छिपा हुआ हेतु है—कर्म शरीर या पूर्वार्जित कर्म-समूह।

दबी हुई इच्छाएं, आकांक्षाएं अवचेतन मन में संगृहीत हैं। वे जागृत होती हैं तब चेतन मन प्रभावित होकर काम करने लगता है। यह मनोविज्ञान की भाषा है। कर्मशास्त्र की भाषा में स्थूल मन प्रभावित होकर व्यक्ति को तदनुरूप आचरण और व्यवहार करने को प्रेरित करता है।

व्यक्ति जो भी प्रवृत्ति करता है—कर्म-बंध साथ में होता है। प्रवृत्ति का फलित है—कर्मों का अर्जन। क्रिया और कर्म का अविनाभाव संबंध है। प्रत्येक क्रिया परिणाम को साथ लिए चलती है। क्रिया और परिणाम में कालक्षेप नहीं होता। क्रिया आज होगी और प्रतिक्रिया-रूप परिणाम हजार वर्ष बाद हो—असंभव है (जैसे—कुएं में ध्वनि करते हैं, प्रतिध्वनि तत्काल हो जाती है)।

कर्म का बंध क्रिया का परिणाम है, वह सहचारी है। क्रिया के समय ही तत्काल बंध हो जाता है। कर्म परमाणुओं का संग्रह हो गया। वह कब तक साथ रहेगा—इसका स्वतंत्र नियम है।

कर्म का सिद्धांत अति सूक्ष्म है, सूक्ष्म बुद्धि से परे का सिद्धांत है। आज वंश-परंपरा की अवधारणा ने कर्म-सिद्धांत को समझने में सुविधा प्रदान की है। ◆

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जैन दर्शन-मनन और मीमांसा, पृ. 167, मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञजी)
2. (क) जैन सिद्धांत कोश, भाग, 2 पृ. 4
   (ख) धवला 1/1, 1/16/180/1। करणाः परिणामाः
2. गोम्मटसार (कर्मकांड) मूल 437
3. जैन सिद्धांत दीपिका, 4/5
   'बंध-उद्वर्तना-अपवर्तना-सत्ता-उदय-उदीरणा-संक्रमण-उपशम-निधत्ति-निकाचनास्तदवस्थाः।
4. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/2-3।
5. जैन सिद्धांत दीपिका, 4/6 कर्मपुद्गलादानं बंधः
6. सर्वार्थ सिद्धि 6/14/332 उदयो विपाकः
   (ख) जैन सिद्धांत दीपिका, (आचार्य तुलसी) पृ. 74
7. जैन दीपिका, 4/5, नियत कालात् प्राक् उदयः उदीरणा।
8. जैनेंद्र सिद्धांत कोश, प्रथम भाग।
9. जैन दीपिका पृ. 72 कर्मणां स्थित्यनुभागवृद्धिः उद्वर्तना।
10. गोम्मटसार (कर्मकांड), जीवतत्त्व दीपिका, टीका 438, 591
11. धवला, 10/4, 2, 4/21, 53/2
12. जैन सिद्धांत दीपिका, पृ. 74
    'यथा-अध्यवसायविशेषेण सातवेदनीयम् असातवेदनीयरूपेण असातवेदनीयं च सातवेदनीय रूपेण परिणमति।
    आयुषः प्रकृतीना दर्शनमोह चारित्रमोहयोश्च मिथः संक्रमणा न भवति।'
13. संक्रमणम्, पृ. 2, भाग 1
14. ठाणं, 4/603
15. जैन भारती, अंक 12, दिसंबर सन् 2000
16. मनोविज्ञान और शिक्षा, डॉ. सरयूप्रसाद चौबे, 5 संस्करण 1960, पृ. 183
17. दशवैकालिक सूत्र, 8/37
18. कर्मवाद, पृ. 220
19. जैन सिद्धांत दीपिका, पृ. 74, आचार्य तुलसी, 'समस्त करणायोग्यत्वम् निकाचना
20. कर्मवाद, पृ. 90, सर्वार्थसिद्धि, 2/1/1/149/5
21. जैनेंद्र सिद्धांत कोश, भाग 1, पृ. 435
22. कर्मवाद (2000), पृ. 91, आचार्यश्री महाप्रज्ञ
23. जैनेंद्र सिद्धांत कोश, भाग 2, पृ. 178

◆◆

पूजा भाव हमें जड़ आदर्श की ओर ले जाता है। हम वही-वही फिर देखना चाहते हैं और दोषों के प्रति आंखें मूंद लेते हैं। तथ्य से अलग किए हुए सत्य को मोहक, भावभीना और सब गुणों से पूर्ण (रूमानी) बना देते हैं। यह प्रक्रिया चेतना को सुप्त करने वाली होती है।

—विपिनकुमार अग्रवाल

चित्तानुशासन की शिक्षा

दयालचंद्र सोनी

मनुष्य का चित्त या मन ही मनुष्य की मुख्य विशेषता है। यदि मनुष्य का मन या चित्त वैसा ही नहीं होता जैसा कि वह है, तो मनुष्य मनुष्य नहीं होता। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो कि शिक्षा के योग्य है। तो प्रश्न उठता है कि मनुष्य में कौन-सा तत्त्व है जिसकी शिक्षा संभव भी है और आवश्यक भी है। इस प्रश्न का उत्तर है कि मनुष्य में एक मन या चित्त-रूपी तत्त्व है और शिक्षा मूलतः मनुष्य के मन अथवा चित्त की शिक्षा का नाम है। यदि मनुष्य में मन या चित्त नामक तत्त्व न होता तो मनुष्य जीवन में शिक्षा का कोई महत्त्व ही नहीं होता। आत्मगत शिक्षण को शिक्षा की विषयवस्तु के अंतर्गत जो इतना महत्त्व दिया गया है उसका खास कारण भी यही है कि मनुष्य की शिक्षा में चित्तानुशासन का विशेष महत्त्व है और इस चित्तानुशासन का दायित्व किसी सीमा के बाद मनुष्य को स्वयं ही संभालना पड़ता है। चित्त प्रत्येक मनुष्य की एक ऐसी चीज है जो हर समय उसके पास है और जो कभी उससे अलग नहीं होती। इसलिए मनुष्य अपने चित्त का अवलोकन तथा अध्ययन निरंतर कर सकता है और वह अवलोकन तथा अध्ययन अत्यंत रोचक, शिक्षाप्रद तथा लाभदायक है। इसके अलावा महान मनोवैज्ञानिकों ने मानव चित्त का अध्ययन करके जो मार्गदर्शन दिया है उससे भी लाभ उठाया जा सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, दया, सहानुभूति, क्षमा, सत्य, ईमान, सहयोग एवं संघर्षरूपी वृत्तियां जो मनुष्य में पाई जाती हैं उन पर विचार किया जाना चाहिए।

> ‘
>
> *चित्तानुशासन के लिए एक तरफ तो विद्यार्थियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें ज्ञान, कर्म तथा भावना की समन्वित अभिव्यक्ति हो और दूसरी तरफ विद्यार्थियों को व्यक्तिगत रूप से अपने आचरण पर चिंतन तथा ध्यान करने का अवसर प्राप्त हो। ‘अपने-आप को समझो’— यह शिक्षा का मूल लक्ष्य है। इसके लिए जहां विद्यार्थी को अपने समूह या समुदाय के बीच जीने की आवश्यकता है वहीं उसे थोड़े समय के लिए नियमित रूप से मौन तथा शांत बैठकर ध्यान तथा चिंतन करने की भी आवश्यकता है ताकि वह अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपनी चिंताओं को एक तटस्थ व्यक्ति की तरह देख सके।*
>
> ’

समझने की मुख्य बात यह है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियों को केवल बुरी या पाप की निगाह से देखना बंद होना चाहिए। मनुष्य की चित्तवृत्तियों में मुख्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में, चाहे वह कितना ही पतित या पापी माना जाए, ऊपर उठने, अपने-आप को सुधारने की एक वृत्ति अवश्य ही पाई जाती है। शिक्षाशास्त्र का मौलिक आधार यही है। **मनुष्य मूलतः ऊपर उठना चाहता है।** पर मनुष्य को जब आवश्यक स्नेह, सम्मान, संरक्षण और सराहना नहीं मिलती तो वह बिगड़ जाता है और एक बिगड़ा मनुष्य दूसरे मनुष्यों के जीवन में विकृति पैदा करता है। इसलिए शिक्षा का यह परम कर्तव्य है कि विद्यार्थियों को अपने चित्त के शोधन की तरफ प्रेरित करे तथा चित्तशोधन के मार्ग पर लगाए। इस विषय में मुख्य बात यह है कि किसी भी चित्तवृत्ति को ‘बुरी’ बताकर उसका जबरदस्ती के साथ दमन करने की शिक्षा बंद होनी चाहिए।

जितनी भी चित्तवृत्तियां हैं, चाहे वे हमारी दृष्टि में अच्छी हैं या बुरी, मूलतः मनुष्य की भीतरी क्षमता एवं शक्ति की अभिव्यक्ति ही हैं। इसलिए शिक्षा का काम सीधे तौर पर किसी चित्तवृत्ति का दमन करने का नहीं है बल्कि सत्संग एवं सुंदर वातावरण तथा निज आचरण के उदाहरण द्वारा उस चित्तवृत्ति को सम्यक् दिशा में मोड़ने का है। स्वयं व्यक्ति को भी अपनी किसी भी वृत्ति से सीधे तौर पर लड़ना नहीं चाहिए बल्कि अभ्यास द्वारा एक नवीन सात्त्विक *मार्ग का निर्माण करना चाहिए। ऐसा करने से पुरानी आदतें* सहज रूप से छूट सकती हैं। चित्त की वृत्तियां इतनी प्रबल होती हैं कि उनसे सीधे तौर पर लड़ना व्यर्थ है। जिस वृत्ति को छोड़ना हो उसकी तरफ से ध्यान को हटाकर किसी सम्यक् साधना में ध्यान एकाग्र करने का अभ्यास किया जाना चाहिए ताकि बिना हठ या दमन के पुराना स्वभाव सहज रूप से छूट जाए।

प्रत्येक मनुष्य को महत्त्व, सम्मान एवं आनंद चाहिए। कुछ मनुष्य ऐसी शिक्षा पा लेते हैं कि स्वयं अपने महत्त्व, अपने सम्मान तथा अपने आनंद के लिए स्वावलंबी बन जाते हैं और ये लोग समाज के लिए समस्यारूप नहीं होते। पर कुछ लोग महत्त्व दूसरों से मांगते हैं, सम्मान भी दूसरों से मांगते हैं और आनंद भी दूसरों से मांगते हैं। ये लोग महत्त्व, सम्मान तथा आनंद के बारे में स्वावलंबी नहीं होते। ऐसे लोग समाज के लिए कई तरह की समस्याएं खड़ी करते हैं। अतः **शिक्षा द्वारा ऐसा इंसान पैदा किया जाना चाहिए जो महत्त्व, सम्मान (मान्यता) तथा आनंद के बारे में दूसरों का मुहताज न हो बल्कि अधिकाधिक आत्मनिर्भर हो।** श्रीमद्भगवद्गीता में ठीक ही कहा गया है कि जो अपने भीतर स्वयं अपने से संतुष्ट है वही स्थितप्रज्ञ है (गीता-2/55)।

मन के समान दूसरा ठग मनुष्य के लिए नहीं है। अतः मनुष्य को शिक्षा यह मिलनी चाहिए कि वह अपने भीतर झांककर अपनी अंदरूनी नीयत को ठीक से देखे तथा समझे। मन या चित्त को जीतने या वश में करने का प्रश्न ही तब तक नहीं उठता जब तक कि हम अपनी निज की हस्ती को अपने मन से ऊपर तथा पृथक न मानें। 'मन दृश्य है, मैं द्रष्टा हूं', मैं और मेरा मन एक नहीं हैं, ऐसा भान शिक्षा के द्वारा प्राप्त होना चाहिए। मन को सुधारने से पहले मन को अपने से तोड़कर अलग करना होगा। जैसे हम दूसरे को अपने से पृथक करके देखते हैं उसी प्रकार हम अपने मन को भी अपने से तोड़ करके अलग करके देखें। गीता में इसी स्थिति को 'अनासक्ति' कहा गया है जो आध्यात्मिक जीवन की कुंजी है। 'मैं क्रुद्ध हो गया', इस भ्रांति के बजाय 'मैंने देखा कि मेरे मन में क्रोध पैदा हो गया है' की वास्तविक स्थिति पर जब हम आ जाते हैं, तब हम अशिक्षित से शिक्षित अवस्था में आ जाते हैं। हमने सारा भूगोल, इतिहास, विज्ञान तथा साहित्य आदि तो पढ़ लिया, परंतु यदि हम शिक्षा की इस बुनियाद पर नहीं पहुंचे कि हम अलग हैं और हमारा मन अथवा हमारा चित्त अलग है, यदि हम यह नहीं जान पाए कि मन एक दृश्य है और हम द्रष्टा हैं, तो फिर मानना होगा कि हमारी शिक्षा *का प्रारंभ ही नहीं हुआ।*

शिक्षा का लक्ष्य यह है कि हम दूसरे मनुष्य के साथ आत्मवत् व्यवहार करें। पर प्रश्न उठता है कि दूसरे मनुष्य के साथ हम आत्मवत् व्यवहार कर कैसे सकते हैं, यदि हम दूसरे मनुष्य की चित्तवृत्तियों को ठीक से न समझें। पर दूसरे की चित्तवृत्तियों को ठीक से समझने का उपाय हमारे पास यही है कि हम स्वयं अपनी चित्तवृत्तियों को ठीक से समझें। हम अपने को ठीक से समझने पर ही दूसरे को ठीक से समझ सकते हैं। इसके अलावा हमारे पास कोई भी दूसरा साधन नहीं है जिससे हम दूसरों को समझ सकें। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि हमें दूसरों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना है तो पहले हमें अपनी चित्तवृत्तियों को समझना होगा और अपनी चित्तवृत्तियों को समझने का उपाय यह है कि हम अपने प्रति वैसा व्यवहार करें जैसा हम दूसरों के प्रति करना चाहते हैं। दूसरों को अपनी तरह देखने हेतु अपने को दूसरे के रूप में पृथक करके देखना आवश्यक है। यदि जीवन में यह मूल समस्या, यह मूल चुनौती, यह मूल प्रेरणा न होती तो मनुष्य की शिक्षा की कोई संभावना ही नहीं होती।

पर चित्तानुशासन की शिक्षा तब तक नहीं हो सकती जब तक कि शिक्षा की विषयवस्तु में जीवन की वास्तविक समस्याओं की परिस्थितियां न हों। औपचारिक शिक्षा में केवल किताबी ज्ञान का समावेश है और उसमें हर विद्यार्थी व्यक्तिगत रूप से केवल अपने प्रति जिम्मेदार होता है। हर विद्यार्थी अपनी परीक्षा पृथक रूप से स्वयं ही पास करता है। **औपचारिक शिक्षा में दायित्व पालन का स्थान बिल्कुल नहीं है। उसमें ज्ञानांग है, कर्मांग बिल्कुल नहीं है।** कर्मांग का समावेश शिक्षा में नहीं होने से चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति का ही जब कोई अवसर औपचारिक शिक्षा में नहीं मिलता तो चित्तवृत्तियों के सुधार का अवसर भी उस शिक्षा में नहीं मिल सकता। शिक्षा में कर्मांग का समावेश होने पर विद्यार्थियों को मिल-जुलकर काम करना होगा और मिल-जुलकर कर्म करने के अवसर के भीतर ही मनुष्य की

चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति का अवसर होगा और जब अभिव्यक्ति का अवसर होगा, तभी उनके सुधार का अवसर भी पैदा होगा।

औपचारिक विद्यालय में विद्यालय का जीवन अपूर्ण, एकांगी तथा कृत्रिम होता है। उसमें एक ही काम है—'किताब से पढ़ो और कलम से उगलो।' बस, इसी में विद्यार्थी की सफलता तथा उत्तीर्णता है। परंतु जब अनौपचारिक शिक्षा में मनुष्य का सर्वांगीण जीवन सहज तथा प्राकृतिक रूप से शिक्षा की परिधि में आएगा तब उसमें मनुष्य की चित्तवृत्तियां भी खुलकर अभिव्यक्त हो सकेंगी और जब वृत्तियों की अभिव्यक्ति का अवसर होगा तब उनको एक पृथक दृश्य के रूप में देखने का तथा उनको सुधारने का विद्यार्थी को अवसर मिलेगा।

औपचारिक शिक्षा वाले भी इस बात को जानते हैं कि उनकी शिक्षा में चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति का अवसर नहीं है और न उनके संशोधन या संस्कृतीकरण (या संस्करण) का अवसर है। इसलिए वे प्रायः ऐसे नाटक रचाते हैं, ऐसी कविताएं पढ़वाते हैं, ऐसे भाषण दिलाते हैं, ऐसे लेख लिखवाते हैं जिनमें उदात्त भावनाओं की कोरी शाब्दिक अभिव्यक्ति होती हो। ऐसी दशा में विद्यार्थी लोग बड़ी बुलंद आवाज में तथा बड़े नाटकीय ढंग से रटी-रटाई बातें सभाओं में बोलते हैं। इस प्रकार की कोरी शाब्दिक अभिव्यक्ति से होता-जाता क्या है? इससे केवल दंभ, ढोंग, पाखंड का ही अभ्यास होता है और संस्कार पड़ता है। इस पाखंडशिक्षा से तो यह बेहतर होगा कि ऐसी रटी-रटाई उदात्त बातों का अभिनय कराया ही नहीं जाए ताकि विद्यार्थी लोग गुणहीन होते हुए गुण का दंभ करना न सीखें।

चित्तानुशासन के लिए एक तरफ तो विद्यार्थियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें ज्ञान, कर्म तथा भावना की समन्वित अभिव्यक्ति हो और दूसरी तरफ विद्यार्थियों को व्यक्तिगत रूप से अपने आचरण पर चिंतन तथा ध्यान करने का अवसर प्राप्त हो। **'अपने-आप को समझो'—यह शिक्षा का मूल लक्ष्य है।** इसके लिए जहां विद्यार्थी को अपने समूह या समुदाय के बीच जीने की आवश्यकता है वहीं उसे थोड़े समय के लिए नियमित रूप से मौन तथा शांत बैठकर ध्यान तथा चिंतन करने की भी आवश्यकता है ताकि वह अपने विचारों, अपनी भावनाओं, अपनी चिंताओं को एक तटस्थ व्यक्ति की तरह देख सके। इस प्रकार के अभ्यास से विद्यार्थी को समझ में आएगा कि शिक्षा एवं शोध का मूल विषय तो वह स्वयं ही है और जिन अन्य विषयों (जो कि मनुष्य के सामाजिक एवं भौतिक परिवेश से संबंध रखते हैं) को उसके शिक्षाक्रम में सम्मिलित किया जाता है वे भी अंत में उसे अपने-आप को ठीक तरह समझने में ही सहायक होते हैं।

औपचारिक शिक्षा में चित्तानुशासन शिक्षा की जो उपेक्षा है वह उसका अक्षम्य अपराध है। चित्तानुशासन ही मनुष्य के मन को भरा-पूरा तथा भीतर से तृप्त एवं प्रसन्न या संपन्न बनाता है और मनुष्य के मन की धन-लिप्सा, सत्ता-लिप्सा या भोग-तृष्णा को घटाता है। आज हमारे देश में जो धन, सत्ता एवं भोग की लिप्सा इस क़दर बढ़ी है और जिसके फलस्वरूप देश में भ्रष्टता, हिंसा व कर्महीनता या हरामखोरी बढ़ी है उसका मूल कारण औपचारिक शिक्षा से निकले स्नातकों की वह सेना है, जिसको चित्तानुशासन का कोई भी अभ्यास या शिक्षण नहीं मिला।

❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

***जैन भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए**
***जैन भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।**

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

अनुभूति

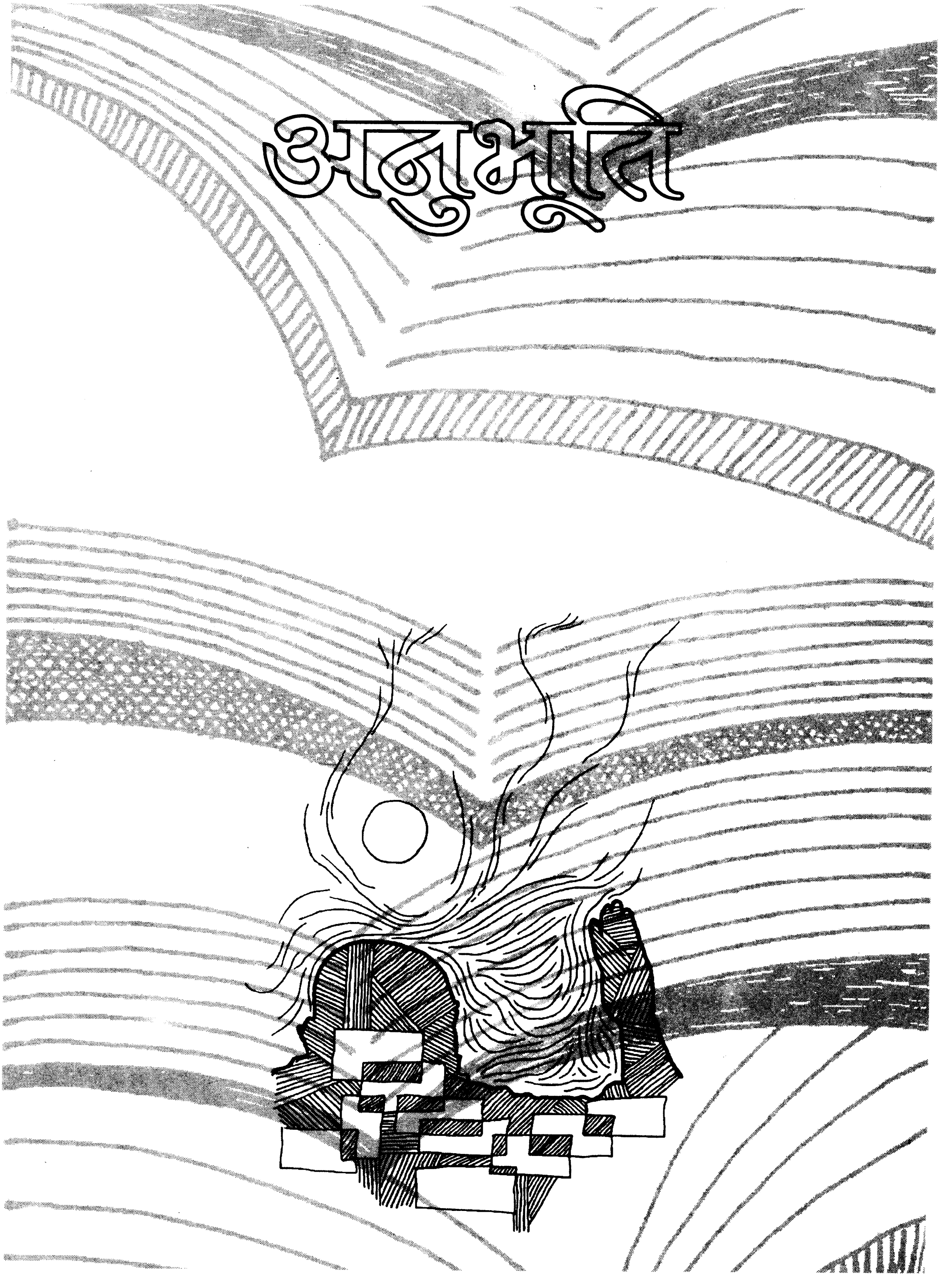

संस्कृति-विशेष में नए विचार किस प्रकार ग्रहण होते हैं, या ग्रहण नहीं हो पाते हैं—यह बहुत-कुछ उन आचार-विचार आदि पर निर्भर है जो इस संस्कृति में परंपरा के रूप में, जातीय स्मृति के रूप में और भाषा में जीवित रहते हैं। अमरीका या रूस जैसे देश, जिनकी ऐतिहासिक स्मृति बहुत लंबी नहीं, नए विचारों को—या नए-से लगते पुराने विचारों को भी—लेकर जल्दी प्रतिकृत होंगे। यह प्रतिक्रिया उन देशों में धीमी और सशंकित होगी जिनका ऐतिहासिक अनुभव बहुत पुराना है और जिनके अचेतन, भाषाई, सामाजिक और जातीय मन पर ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव की अनेक तहें जमी हुई हैं।

—कुंवरनारायण

गणतंत्र दिवस पर विशेष

जरूरत है अंतश्चेतना के विकास की

❑ आचार्यश्री तुलसी

❑

राष्ट्रीय विकास का स्वप्न हर व्यक्ति का स्वप्न है। ऐसा स्वप्न संजोना और उसे पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहना प्रत्येक निष्ठाशील नागरिक का दायित्व है। इसमें कोई दो मत नहीं कि राष्ट्र के लिए विकास जरूरी है। बिना विकास के कोई भी राष्ट्र अपनी गरिमा सुरक्षित नहीं रख सकता। विकास की बात सोचने से पहले यह सोचना अधिक जरूरी है कि संतुलित विकास कैसे हो? ऐसा प्रतीत हो रहा है—भौतिक क्षेत्र में, औद्योगिक, व्यावसायिक और आर्थिक क्षेत्र में तो विकास हो रहा है, पर उसके साथ-साथ राष्ट्रीय अनुशासन और चरित्र का जितना विकास होना चाहिए—उसकी गति बिल्कुल धीमी है। इसीलिए भौतिक विकास से कई उलझनें पैदा हो रही हैं।

जो राष्ट्र अपने नागरिकों में आत्मानुशासन के प्रति विश्वास पैदा नहीं कर सकता, वह अनचाही समस्याओं में उलझ जाता है। महात्मा गांधी इसी राष्ट्र में हुए। उन्होंने आत्मानुशासित व्यक्तियों के निर्माण का प्रयत्न किया और कुछ व्यक्ति निर्मित भी हुए। अपनी विशेषताओं से उन्होंने राजनीति को प्रभावित भी किया।

राजनीति का बहुत मूल्य है। वह कूड़ेदान की वस्तु नहीं है, पर वह ही सब-कुछ हो, ऐसा भी नहीं है। राज्यसत्ता का संचालन करने वाले बहुत बड़ा काम करते हैं, किंतु केवल वही एकमात्र बड़ा काम नहीं है। राजनीति से भी महत्त्वपूर्ण होता है किसी राष्ट्र का चरित्र और राजनेता से भी बड़ा होता है चरित्रवान व्यक्तित्व का निर्माता। व्यक्ति का निर्माण करने में संकल्पशक्ति, आत्मानुशासन, चारित्रिक विकास की अपेक्षा रहती है। इनके अभाव में आज जो प्रश्न खड़े हैं—उनके समाधान के लिए कोई अन्य तरीका नहीं हो सकता।

> ‘
>
> *बौद्धिक विकास बहुत आवश्यक है, किंतु समस्याओं के समाधान के लिए केवल वही पर्याप्त नहीं है। समस्या सुलझती है ज्ञान-चेतना और अंतर्दृष्टि का संतुलित विकास होने से। बौद्धिकता बढ़े और उसके साथ-साथ अंतश्चेतना न जागे तो बौद्धिकता स्वयं समस्या बन सकती है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में अंतर्दृष्टि को जगाने वाली विद्या की शाखा को जोड़ दिया जाए तो वह भावी पीढ़ी के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवदान हो सकता है।*
>
> ❑
>
> *मैं धर्म या अध्यात्म की वकालत नहीं कर रहा हूं। किंतु बुद्धि और अंतर्दृष्टि के संतुलन के बिना उन्मुक्त राष्ट्रीय विकास नहीं हो सकता, इस सचाई को अनुभव कर रहा हूं। मेरा विश्वास है कि इस अनुभूति के स्वर को समझने में किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए। फिर भी यदि कोई कठिनाई हो तो उसे चिंतन के द्वारा सुलझाया जा सकता है।*
>
> ’

आज विज्ञान द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। उसकी नई-नई उपलब्धियों ने यह विश्वास पैदा किया है कि मानवीय स्वभाव को बदला जा सकता है, इच्छाओं और आकांक्षाओं को बदला जा सकता है। आदतों को भी बदला जा सकता है। कमी यही लग रही है कि बदलने की दिशा में कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। बदलने की आकांक्षा जगाने वाला कोई व्यक्ति हो और बदलने का तरीका हाथ में हो तो असंदिग्ध रूप से राष्ट्र का कायापलट हो सकता है। आज राष्ट्र की सबसे बड़ी अपेक्षा यही है। राष्ट्रनेता बुनियादी परिवर्तन के लिए ऐसे व्यक्तित्वों का सहयोग करें और वे स्वयं भी ऐसे कार्यों में आगे आएं—यह निर्णय मेरी सम्मति में दोनों को ही करना चाहिए।

बदलने का तरीका क्या हो? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक अभिमत सामने आ सकते हैं। पर सबसे अच्छा तरीका हो सकता है—चरित्र का अभ्यास। उसके लिए अणुव्रत का नाम सुझाया जा सकता है। अणुव्रत कोरी आचार-संहिता नहीं है और कोरा आंदोलन भी नहीं है। वह पूरा जीवन-दर्शन है। उसके आधार पर एक जीवन-प्रणाली तैयार की जा सकती है। जीवन-प्रणाली भी ऐसी नहीं, जो केवल आदर्श की प्रतीक हो। प्रतीकात्मक ढंग से काम हो भी नहीं सकता। अणुव्रत ऐसा जीवन-दर्शन है, जिसे पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सकता है।

संसार के सामने दो स्थितियां हैं—भोग और त्याग। भोग का अतिवाद समाज को पतन की ओर ले जाता है। त्याग का अतिवाद सबके लिए संभव नहीं बनता। अणुव्रत एक ऐसा मार्ग है, जो भोग को सीमित करता है तथा त्याग को संभवता की सीमा में प्रोत्साहन देता है। इसके लिए शिक्षा में परिवर्तन की निहायत जरूरत है। वर्तमान में शिक्षा के द्वारा केवल बौद्धिक विकास हो रहा है। बौद्धिक विकास बहुत आवश्यक है, किंतु समस्याओं के समाधान के लिए केवल वही पर्याप्त नहीं है। समस्या सुलझती है ज्ञान-चेतना और अंतर्दृष्टि का संतुलित विकास होने से। बौद्धिकता बढ़े और उसके साथ-साथ अंतश्चेतना न जागे तो बौद्धिकता स्वयं समस्या बन सकती है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में अंतर्दृष्टि को जगाने वाली विद्या की शाखा को जोड़ दिया जाए तो वह भावी पीढ़ी के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवदान हो सकता है।

अंतर्दृष्टि को जगाने वाली विद्या को मैं जीवन-विज्ञान कहता हूं। हमने प्रेक्षाध्यान के माध्यम से इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किए हैं। उन प्रयोगों के निष्कर्ष यह बताते हैं कि जीवन-विज्ञान की प्रणाली से अंतर्दृष्टि को जागृत करने में सफलता मिल सकती है। मैं धर्म या अध्यात्म की वकालत नहीं कर रहा हूं। किंतु बुद्धि और अंतर्दृष्टि के संतुलन के बिना उन्मुक्त राष्ट्रीय विकास नहीं हो सकता, इस सचाई को अनुभव कर रहा हूं। मेरा विश्वास है कि इस अनुभूति के स्वर को समझने में किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए। फिर भी यदि कोई कठिनाई हो तो उसे चिंतन के द्वारा सुलझाया जा सकता है।

हमें बड़ी तपस्या और संघर्ष से जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई है उसको स्थाई और प्रभावी कैसे बनाया जा सके तथा राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक उससे लाभान्वित कैसे हो सके—यह आत्म-मंथन जरूरी है। मैं हमारे महान राष्ट्रीय पर्वों को आत्म-मंथन का ही पर्व मानता हूं। मंथन में से ही नवनीत की संभावना की जा सकती है। जहां चिंतन रूढ़ हो जाता है, राजनीति की चकाचौंध में उलझ जाता है—वहां प्रगति के दरवाजे बंद हो जाते हैं।

इन बंद दरवाजों को खोलने के लिए कोई अवतार धरती पर नहीं आएगा और न ही समय की प्रतीक्षा करते रहने से कोई काम हो सकेगा। जिस दिन राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने चरित्रबल के आधार पर ऊंचा उठेगा, राष्ट्र का भविष्य बोलने लगेगा। राष्ट्रीय चरित्र को सुदृढ़ बनाने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना ही होगा।

मैं इस बात से सहमत हूं कि देश की वर्तमान परिस्थितियों पर एक तटस्थ चर्चा-चिंतन होना चाहिए। पर इस बात पर गहराई से ध्यान केंद्रित करना है कि चिंतन में प्राथमिकता 'जन' को दी जाए। क्योंकि राष्ट्रवाद की संकीर्ण दीवारों में जो संज्ञा-संवेदन जन्म लेता है, अंततः उसकी पहचान सर्व-समस्त से नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मैं विशेष महत्त्व 'जन' को ही देता हूं। यद्यपि आज जगह-जगह जनतंत्र अस्तित्व में आए हैं। पर जिस तरह से वे काम कर रहे हैं उनमें 'जन' पीछे छूट गया है तथा तंत्र आगे आ गया है। भिन्न-भिन्न रूपाकारों में एक प्रकार से वह 'पार्टी तंत्र' ही बन गया है। इसी से हिंसा भड़कती है तथा समस्याएं खड़ी होती हैं।

यद्यपि कुछ अबूझ-अजान लोगों के लिए 'तंत्र' की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता है, पर 'तंत्र' के व्यास-पीठ पर जो व्यक्ति बैठता है उसकी दृष्टि 'जन' पर होनी चाहिए, 'तंत्र' या 'पार्टी' पर नहीं। गांधीजी ने भी 'जन' को ही जगाने की कोशिश की थी, पर उनके पीछे से सारी बातें भुला दी गईं। इसी का परिणाम है कि आज एक गहरे संकट का कुहरा सब जगह मंडरा रहा है।

इससे उबरने के लिए मैं कुछ नम्र सुझाव-संकेत प्रस्तुत करता हूं—

1. 'जन' को प्रबुद्ध-सन्नद्ध बनाया जाए। न वह किसी का शोषण करे, न अपना शोषण होने दे।
2. अर्जन के साधन-स्रोत तो अशुद्ध हों ही नहीं, पर जनता को विलासी बनने से भी बचाना होगा।
3. शिक्षा और नैतिकता का समन्वित विकास हो। शिक्षा के बिना काम नहीं चलता, पर यदि उसका आधार नैतिक-बोध नहीं हुआ तो वह अशिक्षा से भी भयंकर बन जाएगी।

4. 'जन' को चरित्र-संपन्न बनाया जाए। इस दृष्टि से अणुव्रत आचार-संहिता विचार का एक मुद्दा बन सकती है।
5. नेतृत्व के लिए आगे आने वाले लोगों में चरित्र-संपन्नता को प्राथमिकता दी जाए। उनके लिए चरित्र का प्रशिक्षण-अभ्यास आवश्यक है।
6. चुनाव का व्यय न बढ़े यह तो द्वितीय बात है। मौलिक बात यह है कि उसे जातीयता, सांप्रदायिकता आदि से कैसे मुक्त बनाया जाए? क्या यह संभव हो सकता है कि उम्मीदवार को चुनाव के खर्च से मुक्त किया जा सके? क्या चुनाव आयोग यह व्यवस्था कर सकता है?
7. क्या चुनाव-प्रचार के लिए एक समन्वित मंच का गठन किया जा सकता है?
8. यदि प्रमाणित हो जाए कि जन-प्रतिनिधि अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर पा रहा है और इससे जनता में कटुता बढ़ने की संभावना है, तब इसको ध्यान में रखने हुए दल का नेता या आचार्यकुल व्यक्तिगत रूप से नैतिक दबाव डालकर उसका हृदय परिवर्तन करने का प्रयास करे।
9. जन-प्रतिबोध का एक समन्वित कार्यक्रम बनाया जाए। उसमें स्वेच्छा-सेवी संस्थाओं तथा देश के प्रबुद्ध चरित्र-संपन्न लोग तो शामिल हों ही, पर राजनीतिक दलों को भी शामिल किया जाए।

जिजीविषा और स्वतंत्रता मनुष्य की मूल प्रवृत्तियां हैं, यह मनोविज्ञान का दृष्टिकोण है। भारतीय जनता की खुशियों का उस दिन कोई पार नहीं रहा होगा, जिस दिन उसने स्वतंत्रता की पहली सांस ली थी। शताब्दियों की दासता से मुक्त होकर भारतीय जनता ने उस दिन हजार-हजार सूर्यों की एक साथ अगवानी की होगी; क्योंकि स्वतंत्रता से बढ़कर जीवन का कोई भी मूल्य नहीं हो सकता। पंद्रह अगस्त का वह दिन भारत राष्ट्र के लिए एक महान पर्व का दिन था। भारतवासियों ने जिस खूबसूरती के साथ इस पर्व को मनाया था, जिस सुनहरे भविष्य की सतरंगी कल्पनाओं में डूबकर आनंद का अनुभव किया था, काश! वह खूबसूरती बरकरार रहती। काश! वे कल्पनाएं साकार हो जातीं।

जिस आजादी के लिए महात्मा गांधी जैसे महान व्यक्ति ने अपनी बलि दे दी, जिस आजादी के लिए देश के होनहार जवान शहीद हो गए, पर भारतीय जनता को उस आजादी का स्वाद नहीं आया। एक आजाद राष्ट्र की जनता कैसे जीती है? कैसे सोचती है? और कैसे काम करती है? इसके अनुरूप वातावरण ही नहीं बन पाया। देश में तथाकथित उच्चवर्ग के लोग विलासिता में डूब गए। जिन लोगों का पुरुषार्थी मन कुछ करना चाहता था, वे अभाव और आर्थिक विपन्नताओं से अपाहिज हो गए। स्वार्थी मनोवृत्ति के लोग समय के चूल्हे पर अपनी रोटी सेंकने में तत्पर हो गए। ऐसी स्थिति में राष्ट्र की चिंता किसे होती? स्वतंत्रता का मूल्यांकन कौन करता? उसके अनुरूप मानसिकता का निर्माण कहां से होता?

भारतीय जनता आजादी का सुख नहीं भोग सकी, आजाद कहलाने पर भी उसका लाभ नहीं उठा सकी, इसके लिए दोषी किसे ठहराया जाए? क्या उन नेताओं पर अभियोग लगाया जाए, जिन्होंने अपने देश के करोड़ों-करोड़ों लोगों को काल्पनिक प्रवाह में बहा दिया? उन्होंने कहा—आजादी मिलते ही हमारे भारत का नक्शा बदल जाएगा। यहां सतयुग आ जाएगा, दूध की नदियां बहेंगी, लोग अमन-चैन से जीएंगे, किसी के सामने कोई समस्या नहीं रहेगी, देश का कोई नागरिक अभाव से पीड़ित नहीं होगा—इत्यादि, अथवा यह दोष जनता पर मढ़ा जाए—जो स्वयं को आजादी के अनुरूप ढाल नहीं पाई, लोकतंत्र के महान आदर्शों को सीख नहीं पाई और इस बात को पहचान ही नहीं पाई कि राष्ट्रीयता के स्थान पर व्यक्तिवादिता के प्रतिफल क्या होते है?

किसी व्यक्ति या वर्ग पर दोषारोपण करना न तो हमारा काम है और न इससे कुछ होने वाला ही है। पर यह जरूर विचारणीय है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिक इतने निस्तेज, इतने निराश और कुंठित क्यों हो गए—जो अपने विश्वास और अपनी आस्थाओं को भी जिंदा नहीं रख पा रहे? इस संदर्भ में सबसे पहली बात यह है कि जो स्वप्न देखा उसके अनुरूप पुरुषार्थ भी किया क्या?

भारत को स्वतंत्र हुए काल का एक बड़ा खंड पूरा हो रहा है। आज भी यह सवाल उसी मुद्रा में उपस्थित है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों के अरमान पूरे क्यों नहीं हुए? इस अनुत्तरित प्रश्न का समाधान न आंदोलनों में है, न नारेबाजी में है और न अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग आलापने में है। इसके लिए तो एक सामूहिक प्रयोग की अपेक्षा है, जो जनता के चिंतन को बदल सके, लक्ष्य को बदल सके और कार्यपद्धति को बदल सके। ❖

मृत्युबोध : स्वज्ञान का आधार

❑ चन्दसिंह मेहता

बुद्ध एक गांव में ठहरे हुए थे और एक व्यक्ति ने सुबह-सुबह आकर कहा, 'आप इतने दिनों से, इतने वर्षों से लोगों को समझा रहे हैं, परमात्मा के लिए, मोक्ष के लिए, आत्मा के लिए, लेकिन कितने लोगों को परमात्मा उपलब्ध हुआ है?' बुद्ध ने कहा, 'मैं कोई चालीस-एक वर्षों से लोगों को परमात्मा और जीवन के अर्थ के संबंध में बता रहा हूं। और तुम्हारा यह पूछना भी ठीक है कि मेरे कितने उपदेशों से लोगों को मोक्ष या परमात्मा का अनुभव हुआ? तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर देने के साथ मैं यह भी जानना चाहूंगा कि इस गांव में जाकर तुम लोगों से पूछो कि कितने लोग परमात्मा को चाहते हैं? कितने लोगों की आकांक्षा है? कितने लोगों के मन में प्यास है?'

गांव छोटा-सा था। वह व्यक्ति गया। उसने सुबह से सांझ तक गांव के लोगों से पूछा—थोड़े-से लोग थे उस गांव में। उसने सारे लोगों की सूची बनाई। कोई धन चाहता था, कोई पद चाहता था, कोई यश चाहता था, किसी को कोई और चाह थी, परंतु परमात्मा को चाहने वाला कोई नहीं था। वह वापस लौटा। बुद्ध ने कहा, 'अगर कोई परमात्मा को न चाहता हो तो ऊपर से परमात्मा किसी के ऊपर थोपा नहीं जा सकता है। कोई किसी को दे नहीं सकता है। भीतर प्यास होनी चाहिए तभी पानी की खोज होती है। भीतर असंतुष्टि होनी चाहिए—जीवन जैसा है उससे असंतुष्टि।'

> ‘बात मृत्यु से डर की नहीं है, मृत्यु के बोध की है। मृत्यु कोई झूठी और काल्पनिक बात नहीं है। मृत्यु से बड़ा सत्य अन्य कोई नहीं है। सब चीजें संदिग्ध हो सकती हैं, परंतु मृत्यु असंदिग्ध है। मृत्यु में खड़े ही हैं, याद करें या न करें। इसे देखना जरूरी है, यह तो तथ्य है। तथ्य को देखे बिना सत्य पाया भी नहीं जा सकता। परंतु डर लगता है कि मृत्यु को याद रखने से जीवन की पकड़ छूट जाएगी। वास्तविकता तो यह है कि जिसे हम जीवन समझ बैठे हैं—वह जीवन तो है ही नहीं। यदि वास्तविक जीवन होता तो पकड़ छूट नहीं सकती। लेकिन हम डरते हैं, क्योंकि चीजों को ही जीवन समझे हुए हैं और मृत्यु से चीजें अवश्य छूट जाएंगी।’

असंतोष की दिशा

असंतोष तो है पर असंतोष जीवन से नहीं, वस्तुओं से है। एक व्यक्ति के पास जितना धन है, उससे वह असंतुष्ट हो जाता है और अधिक धन चाहता है। एक व्यक्ति जिस पद पर है उससे असंतुष्ट हो जाता है, दूसरा पद चाहता है। एक व्यक्ति के पास जो चीजें हैं, उनसे असंतुष्ट हो जाता है और दूसरी चीजें चाहता है। लेकिन व्यक्ति जीवन से असंतुष्ट नहीं होता। असंतोष की दशा बाहर की तरफ होती है, भीतर की तरफ नहीं।

ओशो कहते हैं कि वह व्यक्ति धार्मिक होता है जिसके असंतोष का न समाज से कोई संबंध है, न परिवार से कोई संबंध है, न संपत्ति से कोई संबंध है, न शरीर से कोई संबंध है। जिसके असंतोष की एक ही अर्थवत्ता है, एक ही अर्थ है और वह यह है कि मेरा होना मात्र अभी ऐसा नहीं है कि जिससे मैं संतुष्ट हो जाऊं। जिसकी आखिरी चिंता इस बात की है कि मैं जैसा हूं, क्या ऐसा ही होना काफी है? एक ऐसा असंतोष जो भीतरी

ज़गत से उठता है, जहां व्यक्ति कहता है—नहीं, अज्ञान नहीं, अंधकार नहीं, दुख नहीं, अशांति नहीं, क्रोध नहीं, घृणा नहीं, द्वेष नहीं—ऐसा जीवन चाहता हूं—क्योंकि इनके रहते जीवन जीना कहां है? इस आंतरिक असंतोष से ही धार्मिक व्यक्ति का जन्म होता है।

स्थिति यह है कि जीवन के बाहरी विस्तार से तो हम परिचित हैं, लेकिन हमारे भीतर भी जीवन का विस्तार है, उससे हमारा कोई परिचय नहीं है। भीतर की ओर हमारा ध्यान ही नहीं है। जिस तरफ ध्यान नहीं है उसके द्वार हमेशा बंद रहते हैं। तो फिर प्यास कैसे पैदा हो? प्यास पैदा होती है पीड़ा के किसी अनुभव से, परंतु इस पीड़ा को तो हम भुलाने की चेष्टा करते हैं। किसी को मरते देखकर कभी भी मन में यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता कि मैं भी मरूंगा। जब यह प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता तो प्यास की तो बात ही क्या है?

मृत्यु के पार

नानक लाहोर के पास एक गांव में ठहरे थे। एक व्यक्ति ने उनसे कहा, 'मैं आपकी कुछ सेवा करना चाहता हूं। मेरे पास बहुत संपत्ति है। आपके उपयोग में आ जाए तो अनुग्रह होगा।' नानक कई बार उसे टालते गए। एक बार रात्रि को उसने अपनी प्रार्थना फिर दोहराई तो नानक ने उस व्यक्ति को कपड़े सीने की एक सुई दी। कपड़े सीने की सुई देकर कहा, 'इसे रख लो और जब हम दोनों मर जाएं तो इसे वापस लौटा देना।' वह व्यक्ति कुछ चौंका कि इतने लोगों के सामने ऐसी असंगत और व्यर्थ की बात कहते हैं। सुई को मृत्यु के बाद कैसे लौटाया जाए? लेकिन सबके सामने कुछ कह न सका।

यह एक पत्र

प्रिय श्री पटवा सा.

नमस्कार। जून 02 के जैन भारती के अंक में आपने 'आनन्द : भीतर के स्वरूप की पहचान' छापा था। भीतरी पहचान को आगे बढ़ाते हुए व नवंबर में 'आत्म आलोक' के संपादकीय में नचिकेता के उल्लेख से प्रेरित होकर एक लेख 'मृत्यु बोध : स्वज्ञान का आधार' इस पत्र के साथ संलग्न कर रहा हूं।

आशा है, आप खूब स्वस्थ एवं प्रसन्न हैं।

आपका
चतरसिंह मेहता

श्री मेहता राष्ट्रीय अध्यापक-शिक्षक परिषद (भारत सरकार का सांविधिक संगठन) की उत्तर क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष रहे हैं। आप राजस्थान में प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा निदेशक भी रह चुके हैं।

वह गया। रात-भर सोचता रहा, पर ऐसा कोई मार्ग नहीं दिखा कि सुई मृत्यु के पार कैसे जा सकेगी। वह सुबह उठा और नानक के पास गया, पैरों पर गिरकर कहा कि अभी मैं जिंदा हूं, आप सुई वापस ले लें, मरने पर लौटाना मेरे सामर्थ्य में नहीं है। मैं सारी संपत्ति भी लगा दूं तो मुट्ठी की सुई इस पार ही रह जाएगी। पता नहीं, मैं कहां विलीन हो जाऊंगा। मैं सुई को पार नहीं ले जा सकता।

नानक ने कहा, 'फिर बता कि तेरे पास क्या है जिसे तू मृत्यु के पार ले जा सकता है?' उस व्यक्ति ने कहा, 'मैंने तो कभी यह विचारा ही नहीं, परंतु देखता हूं तो दिखाई नहीं पड़ता कि मेरे पास कुछ है जिसे मैं पार ले जा सकता हूं।' नानक ने कहा, 'जो मृत्यु के पार न जा सके वह संपत्ति नहीं है।'

और एक हम हैं कि जो पूरा जीवन उन चीजों को इकट्ठा करने में लगा देते हैं, पूरा जीवन गंवा देते हैं उनके लिए जिन्हें साथ नहीं ले जा सकते। चीजों के लिए जीवन-भर दुखी रहते हैं, क्योंकि चीजों का क्षितिज कभी मिलता नहीं, आकांक्षाओं का विस्तार होता रहता है। भगवान महावीर ने कहा है, 'सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भये, सिया हु कैलाससमा असंख्या। नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छाहु आगाससमा अणन्तिया—कदाचित सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हो जाएं, तो भी लोभी पुरुष को उससे कुछ भी नहीं होता। तृप्ति नहीं होती क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनंत है।' बड़े-बड़े दुख और तूफान जिसे नहीं बुझा पाते, वह जिंदगी बस, जरा एक सांस के झोंके से बुझ जाती है। जिस दिन ऐसा होता है, उस दिन पछताते हैं, रोते हैं। वास्तव में मरते वक्त जो आदमी की पीड़ा है, वह मृत्यु के कारण नहीं है—वह व्यर्थ गए जीवन के कारण है। सारा जीवन असार गया, हाथ यह मौत आई। जो चाहा था वह तो नहीं मिला और जो नहीं चाहा था— मौत, वह आ गई।

व्यर्थता का आभास

महाभारत में कथा है, ययाति की। ययाति सौ वर्ष का हुआ। बड़ा सम्राट था, उसके सौ बेटे थे। अनेक उसकी पत्नियां थीं, बड़ा साम्राज्य था। सौ वर्ष का हुआ। मौत

उसके द्वार पर आई तो ययाति ने कहा, 'एक क्षण रुक। अभी तो मेरा कुछ भी काम पूरा नहीं हुआ। यह भी कोई आने का वक्त है। अभी तो कोई सपना भी सत्य नहीं हुआ। मुझे समय चाहिए।'

मृत्यु ने मजाक में ही ययाति से कहा, 'यदि तेरा कोई पुत्र तुझे अपना जीवन दे दे, तो तुझे छोड़ जाऊं और उसे ले जाऊं।' ययाति ने अपने सौ पुत्रों को बुलाया और कहा कि 'तुम अपना जीवन मुझे दे दो, मेरा जीवन अधूरा रह गया है। तुम मेरे बेटे हो, मैंने तुम्हें पैदा किया। तुम्हारे लिए ही तो मैं नष्ट हुआ। तुम मुझे अपना जीवन दे दो, मौत मुझे छोड़ने को राजी है।' परंतु बेटों की अपनी वासनाएं थीं। बेटों को भी और समय चाहिए था। लेकिन एक छोटा बेटा राजी हो गया। बड़े बेटे समझदार थे, अनुभवी थे, वे कोई राजी नहीं हुए।

ययाति ने उस छोटे बेटे से पूछा कि तू क्यों राजी हो रहा है? उसने कहा कि इसलिए राजी हो रहा हूं कि सौ वर्ष जीकर भी आपकी वासना तृप्त नहीं हुई, तो मैं ऐसी मेहनत में ही नहीं पड़ूंगा।

बेटा राजी हो गया। बेटा मर गया। ययाति और सौ साल जीया। ये भी सौ साल कब निकल गए, पता न चला। मौत फिर द्वार पर आ गई, तभी ययाति को खयाल आया और उसने मौत से कहा, 'क्या सौ वर्ष पूरे हो गए? मेरी कामनाएं तो अभी उतनी की उतनी अधूरी हैं।' इस बीच ययाति के और पुत्र हो गए थे। मौत ने कहा, 'फिर किसी पुत्र को पूछ लो—अगर कोई राजी हो।' यह कथा बड़ी अद्भुत है, ऐसा दस बार हुआ और ययाति हजार साल जीया। और हजार साल बाद जब मौत आई तब भी ययाति ने यही कहा कि इतनी जल्दी!

मौत ने उसे कहा, 'ययाति! कितना ही समय तुम्हें मिले, वासनाएं पूरी नहीं होंगी।'

हम सब की भी यही दशा है। हर बार जब मौत आती दिखाई देती है तो सोचते हैं, कुछ नहीं किया, करना तो सारा बाकी है। तब जिंदगी की व्यर्थता दिखाई पड़ती है, लेकिन तब कोई प्रयोजन नहीं, तब कोई अर्थ नहीं क्योंकि अर्थ डालना था तो पहले। समय निकल गया, इधर से उधर फिंकते रहे और सोचा ही नहीं—जाना कहां है?

मृत्युबोध से क्रांति

महाराष्ट्र में एक साधु थे—एकनाथ। उनके पास एक व्यक्ति बहुत दिनों से आता था और उस व्यक्ति ने अनेक बार एकनाथ से प्रश्न पूछे। एक बार उसने एक अजीब बात एकनाथ से पूछी। उसने कहा कि मैं आपको बहुत दिनों से जानता हूं, आपका जीवन बाहर से तो एकदम पवित्र है, परंतु भीतर भी पवित्रता है या नहीं? बाहर से तो आप एकदम ईश्वर मालूम पड़ते हैं, लेकिन क्या भीतर आपके कोई बुरे विचार, विकार उठते हैं या नहीं? एकनाथ ने कहा, 'मैं अभी बताता हूं, पर एक अन्य जरूरी बात तुझे पहले बता दूं, कहीं मैं भूल न जाऊं। कल अचानक मैंने तुम्हारा हाथ देखा तो मुझे दिखाई पड़ा कि तुम्हारी मृत्यु करीब आ गई, सात दिन बाद तुम मर जाओगे। सोचा, यह मैं तुम्हें पहले बता दूं और फिर तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूं।'

एकनाथ ने कहा कि अब पूछो तुम, क्या पूछते हो? वह व्यक्ति बैठा था, खड़ा हो गया। उसने कहा कि मौका मिला तो कल आऊंगा। उसके हाथ-पैर कांपने लगे। एकनाथ ने कहा, 'इतनी जल्दी क्या है? सात दिन भी बहुत हैं। इतनी घबराहट क्या है? और मरना तो सभी को पड़ता है।' लेकिन वह व्यक्ति एकनाथ की बातें नहीं सुन रहा था। वह उठा और जाने लगा। उसके पैर कांपने लगे। सीढ़ियों पर वह गिर पड़ा। बेहोश हो गया। लोगों ने उसे उठाया और घर पहुंचाया। उसके प्रियजन, उसके मित्र इकट्ठे हो गए। सब तरफ खबर फैल गई कि वह आदमी मृत्यु के करीब है। सातवें दिन संध्या को जब सूरज डूबने को था, सारे घर के लोग रो रहे थे। पड़ोसी इकट्ठे थे और वह युवा व्यक्ति बिस्तर पर लेटा हुआ था।

एकनाथ उसके घर गए। वे जब अंदर पहुंचे तो वहां मौत का पूरा वातावरण था। सारे लोग उन्हें देखकर रोने लग गए। एकनाथ ने कहा, 'रोओ मत। मुझे जरा अंदर ले चलो।' वे भीतर गए और उस व्यक्ति को हिलाकर पूछा, 'मित्र, एक बात पूछने आया हूं। सात दिन में कोई पाप तुम्हारे भीतर उठा, कोई बुराई, कोई विकार?' उस आदमी ने बहुत कठिनाई से आंखें खोलीं और कहा कि आप भी मरते हुए आदमी से मजाक करते हैं। एकनाथ ने कहा कि तुमने भी एक मरते हुए आदमी से ही मजाक किया था। तुम्हारी मौत अभी नहीं आई है, अभी तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया है। जिसे मौत दिखाई पड़ने लगे उसके भीतर पाप उठने अपने-आप विलीन हो जाते हैं। विकार शून्य हो जाते हैं और जिसे मौत दिखाई पड़ने लगे उसके भीतर एक क्रांति हो जाती है। संसार के प्रति उसकी पीठ और परमात्मा की तरफ मुख हो जाता है। एकनाथ ने कहा, 'तुम्हारी मौत अभी आई नहीं है, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया है। उठो, घबराओ मत। मौत सात दिन बाद हो या

सात वर्ष बाद या सत्तर वर्ष बाद—क्या फर्क पड़ता है? मौत का होना ही पर्याप्त है। दिनों की गिनती से कोई फर्क नहीं पड़ता। मौत का होना ही अर्थपूर्ण है।' एकनाथ ने कहा, 'मृत्यु है—जिस दिन मुझे यह पता चला—उसी दिन जीवन में क्रांति हो गई।'

बात मृत्यु से डर की नहीं है, मृत्यु के बोध की है। मृत्यु कोई झूठी और काल्पनिक बात नहीं है। मृत्यु से बड़ा सत्य अन्य कोई नहीं है। सब चीजें संदिग्ध हो सकती हैं, परंतु मृत्यु असंदिग्ध है। मृत्यु में खड़े ही हैं, याद करें या न करें। इसे देखना जरूरी है, यह तो तथ्य है। तथ्य को देखे बिना सत्य पाया भी नहीं जा सकता। परंतु डर लगता है कि मृत्यु को याद रखने से जीवन की पकड़ छूट जाएगी। वास्तविकता तो यह है कि जिसे हम ज़ीवन समझ बैठे हैं—वह जीवन तो है ही नहीं। यदि वास्तविक जीवन होता तो पकड़ छूट नहीं सकती। लेकिन हम डरते हैं, क्योंकि चीजों को ही जीवन समझे हुए हैं और मृत्यु से चीजें अवश्य छूट जाएंगी।

अनित्य को नित्य मानना

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है—मन का मैल मिटाना जरूरी है। मन पर मैल तब जमता है जब हम अनित्य को नित्य मान कर चलते हैं। संयोग को शाश्वत और विजातीय को सजातीय मान कर चलते हैं। हम इस बात को सिद्धांत से और व्यवहार से भी जानते हैं कि पदार्थ अनित्य है, संयोग अनित्य है। जो पदार्थ प्राप्त है, वह अवश्य ही नष्ट होता है। जो संयोग मिला है, उसका निश्चित ही वियोग होता है। पदार्थ अनित्य है, पदार्थ का संयोग अनित्य है और पदार्थ विजातीय है। चेतना का गुण-धर्म पदार्थ से भिन्न है। हम सब इन तत्त्वों को जानते हैं, किंतु पदार्थ को नित्य मानकर व्यवहार करते हैं, पदार्थ के संयोग को शाश्वत मानकर चलते हैं और पदार्थ को सजातीय मानते हैं, अपना मानते हैं हम इसे जानते नहीं, केवल मानते हैं।

आचार्यश्री कहते हैं, 'जानने और मानने में बड़ा अंतर है। जिस दिन हम मानने की अवस्था को पारकर जानने की स्थिति में पहुंच जाएंगे तब हमारे लिए पदार्थ मात्र पदार्थ होगा और चेतन चेतन होगा। पदार्थ का उपयोग हो सकता है, पदार्थ का संयोग हो सकता है किंतु पदार्थ शाश्वत नहीं हो सकता, पदार्थ सजातीय नहीं हो सकता, अपना नहीं हो सकता। अशाश्वत को शाश्वत मानने का आरोप, विजातीय को सजातीय मानने का आरोप, केवल मानने के कारण ही होता है। यदि जान लिया जाता है तो सारे आरोप नष्ट हो जाते हैं। जब तक मन पर मोह या मूर्च्छा का मैल जमा रहता है, तब तक व्यक्ति सब-कुछ मानता चला जाता है, जानता कुछ भी नहीं है। पदार्थ के मूल स्वरूप को जाने बिना उसे जाना नहीं जा सकता।'

मृत्युबोध—जानने का आधार

आचार्यश्री ने इस बात पर जोर दिया है कि पदार्थ की अनित्यता, संयोग की अनित्यता को मात्र मानें नहीं—जानें। उसे खुली आंखों से, भीतरी आंखों से देखें। स्मृति काफी नहीं है, जानना ही काफी है। यह गहरी बात है। मानने का, उसे सतत स्मरण रखने का तो यह अर्थ होता है कि उसे जानते नहीं हैं। जिसे जानते हैं उसका प्रयासपूर्वक स्मरण नहीं रखना पड़ता। वह तो मांस-मज्जा का भाग बन जाता है। जिसे जाना है, उसे भूलने का उपाय नहीं होता। पदार्थों की अंधी दौड़, दुख की दौड़ को कहीं विराम यदि लग सकता है तो इनकी क्षणभंगुरता के प्रति जागरण से, शाश्वत के जानने से ही। और यह तभी हो सकता है जब मृत्यु सही रूप में दिखाई पड़े। यदि मृत्यु का बोध होगा तो भीतर एक आकांक्षा पैदा होगी कि अगर यह मृत्यु है तो फिर जीवन क्या है? यदि यह सब मृत्यु है तो जीवन को जानने के लिए क्या किया जाए? तब भीतर एक प्यास पैदा होगी।

कठोपनिषद् मृत्यु के रहस्यों का अनूठा ग्रंथ है। नचिकेता मौत (यम) से मिलने गया। मृत्यु का रहस्य जानने के लिए, मृत्यु के पार क्या है, यह जानने के लिए। यम ने उसे बहुत प्रलोभन दिए कि वह संसार के सभी सुख उससे मांग ले पर इस छोटी-सी उम्र में आत्म-ज्ञान की बात नहीं करे, यह सहज ही समझ में आने वाला नहीं है। नचिकेता के दृढ़ निश्चय के कारण यम को उसे मृत्यु व मृत्यु-पार के रहस्य बताने पड़े। कठोपनिषद् का अंतिम श्लोक है—'मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽय लब्ध्वा, विद्यामेताम योगविधि च कृतस्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूदिमृत्यु-रम्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।' अर्थात् इस प्रकार उपदेश सुनने के अनंतर नचिकेता यमराज द्वारा बतलाई हुई इस विद्या को प्राप्त करके विकारों से शून्य, विशुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया।

नचिकेता की तरह ही इस अध्यात्म विद्या को जानने के लिए जिस व्यक्ति की भी जिज्ञासा होगी—मृत्यु क्या है, जीवन क्या है, पदार्थ क्या है, मैं कौन हूं, क्या हूं? तो जीवन के रहस्य उघड़ते जाएंगे और यही बन जाएगा स्वज्ञान, आत्मज्ञान और स्व की पहचान का आधार। ❖

मातृत्व में है महानता का बीज

मुनि धनंजयकुमार

एक मां ने टॉलस्टॉय से पूछा, 'मैं अपने लड़के को पढ़ाना चाहती हूं। उसके लिए उपयुक्त समय कौन-सा है?' टॉलस्टॉय ने प्रतिप्रश्न किया, 'तुम्हारा लड़का कितने वर्ष का है?' 'वह पांच वर्ष का है।' मां का उत्तर था। टॉलस्टॉय बोले, 'तुमने पांच वर्ष देर कर दी, बालक के शिक्षण का सही समय मां के गर्भ में आते ही शुरू हो जाता है। उसकी पढ़ाई उसी समय शुरू हो जाती है।'

टॉलस्टॉय के इस कथन का अर्थ है—शिक्षण वही नहीं है, जो स्कूल में दिया जाता है। वास्तविक शिक्षण वह है—जो व्यक्ति अपने परिवेश से, अपने मां और पिता से ग्रहण करता है। यह इस सचाई को प्रस्थापित करता है कि बच्चे के निर्माण का दायित्व जितना अध्यापक का है, उससे अधिक मां का है।

ज्वलंत प्रश्न है—क्या मां अपने दायित्व का निर्वाह करती है? क्या वह अपने दायित्व को समझती है? क्या उसे इस बात का बोध है कि बच्चे के अच्छे या बुरे होने का बहुत-कुछ दायित्व उस पर भी है? यदि मां को इस सचाई का बोध निरंतर बना रहे तो सुयोग्य और स्वस्थ बालक की कल्पना साकार हो जाए। आज यह समस्या सामने आती है कि बालक अविनीत है, उद्दंड और उच्छृंखल है, अनुशासनहीन या गुस्सैल है, दब्बू या डरपोक है। उसका मन अध्ययन में नहीं लगता, खेल-कूद और मौज-मस्ती में ही मन अधिक लगता है। प्रत्येक मां चाहती है—उसकी संतान विनीत और आज्ञाकारी हो, अनुशासित और शांत हो, विवेकयुक्त और आध्यात्मिक हो, चरित्रनिष्ठ और नैतिक हो। मां की इस चाह का पूरा होना या न होना उसके ही संकल्प पर निर्भर है। यदि मां का संकल्प दृढ़ और सम्यक् है तो पुत्र भी मां की चाह के अनुरूप ढलता जाएगा। यदि मां का संकल्प श्लथ है, संतान में अच्छे संस्कारों को संक्रांत करने के प्रति सजग नहीं है, तो उसकी चाह अधूरी भी रह सकती है।

> ‘वस्तुतः मां होना अलग बात है और मातृत्व की चेतना का जागृत होना अलग बात है। मां और मातृत्व—ये दो तत्त्व हैं। प्रत्येक मां अपनी संतान को श्रेष्ठ बनाना चाहती है, पर उसकी यह चाह मातृत्व के प्रबुद्ध होने पर ही पूरी होती है। मां वह है—जो संतान को जन्म देती है, लेकिन मातृत्व वह है—जो संतान को महानता के सोपान उपलब्ध कराता है। माताएं सब समान होती हैं। पर मातृत्व सबका समान नहीं होता। जिसका मातृत्व प्रबुद्ध होता है उसका पुत्र भी विशिष्ट बन जाता है। जिसका मातृत्व सुप्त होता है, उसका पुत्र कई बार साधारण भूमिका के स्पर्श से भी वंचित रह जाता है।’

पुत्र सन्मार्ग पर जा रहा है या उन्मार्ग पर? इसका उत्तर इस प्रश्न में छिपा है कि मां ने अपनी संतान को संस्कार कैसे दिए हैं? वह बालक के निर्माण के प्रति कितनी जागरूक है? उसकी निष्ठा कितनी प्रबल है? संकल्प कितना शक्तिशाली है? बच्चा कुल का गौरव बने, यह आकांक्षा जितनी प्रबल होती है, क्या उतना ही प्रबल दायित्व भाव भी है और संकल्प भी? क्या बालक को वैसे ही संस्कार दिए जाते हैं? वैसा वातावरण और परिवेश मिलता है, मार्गदर्शन और सहयोग मिलता है? यदि ऐसा नहीं है तो विनीत, अनुशासित और

चरित्रनिष्ठ बालक के उद्भव की कल्पना नहीं की जा सकती। 'यथा राजा तथा प्रजा'—कहावत जितनी सच है, उतनी ही सच यह कहावत है—'यथा माता तथा पुत्रः'। पुत्र का सम्यक् लालन-पालन, अच्छे संस्कारों का वपन मां का सहज स्वीकृत दायित्व है। इसकी उपेक्षा पुत्र को गलत दिशा में ढकेलती है।

वस्तुतः मां होना अलग बात है और मातृत्व की चेतना का जागृत होना अलग बात है। मां और मातृत्व—ये दो तत्त्व हैं। प्रत्येक मां अपनी संतान को श्रेष्ठ बनाना चाहती है, पर उसकी यह चाह मातृत्व के प्रबुद्ध होने पर ही पूरी होती है। मां वह है—जो संतान को जन्म देती है, लेकिन मातृत्व वह है—जो संतान को महानता के सोपान उपलब्ध कराता है। माताएं सब समान होती हैं। पर मातृत्व सबका समान नहीं होता। जिसका मातृत्व प्रबुद्ध होता है उसका पुत्र भी विशिष्ट बन जाता है। जिसका मातृत्व सुप्त होता है, उसका पुत्र कई बार साधारण भूमिका के स्पर्श से भी वंचित रह जाता है।

यद्यपि इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी व्यक्ति का विशिष्ट या साधारण होना उसकी नैसर्गिक योग्यता, पुरुषार्थ और भाग्य पर भी बहुत निर्भर है। जो व्यक्ति अपनी सुप्त शक्ति को जगा लेता है, अपनी कर्मजा शक्ति का विस्फोट कर लेता है, आत्मविश्वास, निष्ठा और संकल्प से लक्ष्य की ओर गतिशील पथ चुन लेता है—वह विशिष्ट बन जाता है। जो ऐसा नहीं कर पाता, जिसकी शक्तियां जाग नहीं पातीं, उसका भाग्य सोया ही रह जाता है। अपने निर्माण या ध्वंस का उत्तरदाई व्यक्ति स्वयं भी है—यह सच है, लेकिन इसके साथ जुड़ी सचाई यह भी है—व्यक्ति के निर्माण या ध्वंस में मां की विशिष्ट भूमिका होती है। वह संतान को प्रगति के शिखर की ओर ले जा सकती है, पतन के गर्त में भी ढकेल सकती है। मां एक शक्ति है, यदि वह प्रबुद्ध है तो प्रगति की दिशा में प्रस्थित करने की प्रेरणा बन सकती है, सहायक और मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है। यदि वह सुप्त है तो पतन का कारण भी बन सकती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रश्न उभर सकता है—क्या एक मां अपने पुत्र के पतन का कारण होती है? यदि मां ही पतन का कारण है तो उसके उत्थान का हेतु कौन होगा? मां पुत्र का विनाश करे, क्या यह पानी में आग लगने जैसी बात नहीं है? बावजूद इन प्रश्नों के यह एक अविश्वसनीय सच है।

इस संदर्भ में एक मार्मिक घटना बताना प्रासंगिक होगा। एक कुख्यात आतताई चोर को पुलिस ने गिरफ्तार किया। उसे न्यायालय में पेश किया गया। न्यायाधीश ने उसके अपराध को गंभीर मानते हुए फांसी की सजा सुना दी। चोर की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। उसे पहली बार अपनी भूल का एहसास हो रहा था। फांसी का दिन निश्चित हो गया। चोर ने अपनी मां से मिलने की इच्छा व्यक्त की। मां कारागार में आई। उसके चेहरे पर व्यथा थी, पर पुत्र के मुख पर विषाद नहीं, आक्रोश की रेखाएं उभर रही थी। ज्योंही मां पुत्र के पास पहुंची, चोर ने अपनी मां के नाक को दांतों से काट खाया। मां कराहने लगी। कारागृह अधीक्षक यह देख स्तब्ध रह गया। उसने रोष और विस्मय-भरे स्वरों में कहा, 'तुमने यह क्या किया? अपनी ही मां का नाक चबा डाला?' चोर ने कहा, 'मुझे इसका कोई पश्चात्ताप नहीं है, क्योंकि आज जो फांसी मुझे मिल रही है, उसका कारण मेरी यही मां है।' कारागृह अधीक्षक यह सुनकर अवाक् रह गया। चोर ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा, 'जब मैं सात वर्ष का था—मैंने स्कूल में अपने सहपाठी का एक मूल्यवान पेन चुराया। वह मेरी पहली चोरी थी। मैंने घर जाते ही अपनी मां को वह पेन दिखाया। किस कौशल से मैंने चोरी की, इसका वर्णन किया। मां ने मेरे इस कार्य की प्रशंसा की। मेरा उत्साह बढ़ गया। मैं नित नई चोरियां और अन्य अपराध करने लगा। मेरी मां मेरी इस सफलता को वर्धित करती रही। धीरे-धीरे मैं कुख्यात अपराधियों की श्रेणी में पहुंच गया और उसका परिणाम यह हुआ—मुझे इस शर्मनाक मौत से मरना पड़ रहा है। यदि मेरी मां मुझे उस दिन चोरी करने से रोकती, समझाती और यह कहती कि चोरी करने से शील, संयम और प्रतिष्ठा—सब-कुछ चला जाता है तो मैं चोर नहीं बनता और....मुझे यह दिन देखना नहीं पड़ता।' यह कहते हुए चोर फफक...फफक कर रो पड़ा, 'ऐसी मां का नाक चबाकर मैंने क्या गलत किया है? जो मां अपने पुत्र को गलत रास्ते पर बढ़ने दे, अपने बेटे के विनाश का कारण बने—भला वह कैसी मां?'

यह अजागरूकता और विवेकशून्य मातृत्व का प्रतिफल है। एक मां भी अपने पुत्र के पतन और विनाश की प्रेरणा बन सकती है, इसका मार्मिक साक्ष्य है। यदि मातृत्व प्रबुद्ध होता, विवेक से अनुप्राणित होता तो पुत्र की चोर-वृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता, पतन की दिशा में उठा पहला कदम दुबारा नहीं उठता। प्रबुद्ध मातृत्व वह है, जो पुत्र की ऐसी वृत्तियों पर अंकुश लगाए। पुत्र को यह एहसास कराए कि जो किया जा रहा है, वह उचित नहीं है, जीवन के लिए श्रेय नहीं है। दुनिया में ऐसी माताओं की भी कमी नहीं है, जो गलत मार्ग पर प्रस्थित पुत्र को सन्मार्ग पर ले आती हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। एक सैनिक ने युद्ध में लूटे हुए गहनों का एक डिब्बा अपनी मां के पास भेजा। मां ने बेटे द्वारा भेजे गए पार्सल को खोला। मूल्यवान गहने

देखते ही उसका मन बोल उठा, 'ये गहने पुत्र की अपनी कमाई के नहीं हो सकते हैं। अवश्य ही उसने किसी महिला के सुख-चैन को छीनकर ये गहने प्राप्त किए हैं।' मां का मातृत्व जाग उठा। उसने लौटती डाक से पुत्र को पत्र लिखा, 'तूने मेरे लिए कीमती गहने भेजे। मैं जानती हूं—इतने महंगे गहने तुम अपने वेतन के पैसों से नहीं खरीद सकते। अवश्य ही तुमने किसी स्त्री से ये गहने छीने हैं। पुत्र! मैं बिना गहनों के रह सकती हूं, पर ऐसे गहने पहनकर किसी चोर की मां कहलाना सहन नहीं कर सकती। इस प्रकार गहने लूटकर, किसी मां का सुख-चैन छीनकर तुमने मेरे दूध को लज्जित किया है। मैं ये गहने वापस भेज रही हूं। तुम उस मां को दे देना, जिससे तुमने ये गहने जबरदस्ती लूटे हैं और....यदि तुम मेरे पुत्र कहलाना चाहते हो तो भविष्य में किसी मां-बहन के साथ ऐसा व्यवहार मत करना।'

मां का पत्र पढ़ते ही पुत्र की आंखें खुल गईं। उसे अपने कर्तव्य का बोध हो गया। गलत मार्ग पर बढ़ा कदम एक ही बार में कहीं थम गया। नैतिकता और सदाचार उसके जीवन के अंग बन गए। यह प्रबुद्ध मातृत्व का निदर्शन है। यदि वह मां गहनों के लालच में पुत्र की प्रशंसा करती तो उसका पुत्र सदाचार और नैतिकता का बोधपाठ नहीं सीख पाता। प्रत्येक मां यह सोचे, आत्मविश्लेषण करे—मैं कहीं अपनी संतान को गलत मार्ग की ओर जाने के लिए प्रेरित तो नहीं कर रही हूं? मैं उसे सन्मार्ग की ओर ले जा रही हूं या नहीं? मैं उसमें अच्छे संस्कारों का वपन कर रही हूं या नहीं?

आज हिंसा, हत्या, अपराध, बलात्कार आदि समस्याओं से समाज पीड़ित है। समाज की उस पीड़ा को रोकने या बढ़ाने में मां की अहं भूमिका हो सकती है। क्या मैं उस भूमिका का निर्वाह कर पा रही हूं? कहीं मेरा पुत्र मां के दूध को लजाने जैसा कार्य तो नहीं कर रहा है? यह चिंतनधारा जितनी प्रबल होगी, मातृत्व उतना ही सार्थक और उपयोगी होगा।

इस दुनिया में ऐसी माताएं भी हैं, जिन्होंने प्रबुद्ध मातृत्व का परिचय दिया है, पुत्र को उत्थान की दिशा में गतिशील किया है, पतन से बचने का संकल्प दिलाया है। महात्मा गांधी का जीवन-प्रसंग विश्रुत सामने है। जब महात्मा गांधी पहली बार विदेश जा रहे थे तब उनकी मां का प्रबुद्ध मातृत्व सक्रिय बन गया। मां ने महात्मा गांधी को दो संकल्प दिलवाए—'विदेश में कभी मद्य-मांस का सेवन नहीं करेगा और परस्त्री गमन से सदा दूर रहेगा।' महात्मा गांधी ने मां की इस बात को स्वीकार किया। वे हर परिस्थिति में अविचल रहे। इन संकल्पों ने उनके जीवन की पवित्रता और महानता का द्वार उद्घाटित कर दिया। महात्मा गांधी ने लिखा—मेरी मां यदि मुझे ये संकल्प नहीं दिलाती तो संभवतः मैं इन बुराइयों से बच नहीं पाता। यह प्रबुद्ध मातृत्व का निदर्शन है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सामान्य परिवेश में पले-पुसे, पर असाधारण व्यक्तित्व के शलाका पुरुष बन गए। उसमें उनकी मां के संस्कारों का ही गहरा प्रभाव रहा है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक दिन अपनी मां से पूछा, 'मां! तुमने मुझे क्या संस्कार दिए थे कि मैं सदा बुरी आदतों से बच पाया? निरंतर अपने विकास के पथ पर बढ़ता रहा।' मां साध्वी बालूजी ने कहा, 'मैं तीन बातों पर बहुत बल देती थी : 1. तुम सदा सत्य बोलो—असत्य कभी मत बोलो, 2. प्रतिदिन संतों और श्रेष्ठ पुरुषों की संगत करो, 3. मैं तुम्हें निरंतर नमस्कार महामंत्र का जप करना सिखाती थी।'

यह निर्विवाद तथ्य है कि जो सत्य बोलेगा, अच्छे व्यक्तियों से संपर्क रखेगा, प्रभु का जप करेगा—वह गलत रास्ते पर कैसे जाएगा? जिस मां का मातृत्व प्रबुद्ध होता है, वह अपने बच्चे को निरंतर सात्विक, उदात्त और शीलमय संस्कारों से भावित करती रहती है। ये संस्कार व्यक्तित्व को ऊंचाई प्रदान करते हैं, व्यक्तित्व की जो महानता है, उसकी आधारशिला बन जाते हैं।

जितने भी महापुरुष हुए हैं, विशिष्ट व्यक्ति हुए हैं, उनके निर्माण में मां का प्रबुद्ध मातृत्व प्रखर रहा है। यह सच है कि व्यक्ति की अपनी योग्यता से भी वह विकास के सोपान चढ़ता है, पर उसमें मातृत्व का योग भी कम नहीं होता। मां जितनी कठिनाइयों को झेलकर अपनी संतान का पालन-पोषण करती है—यदि वह उसके संस्कार-निर्माण पर भी पूरा ध्यान दे तो हर पुत्र अपनी मां का सुखद भविष्य बन जाए। मां की आशा का दीप पुत्र ही होता है। वह मां धन्य होती है, वह मातृत्व सार्थक होता है—जिसकी संतान आशा का दीप बनकर मां के जीवन को आलोक से भरदे। जिसे आलोक की खोज है, जो अपनी संतान को महान् बनाना चाहती है—वह केवल जननी ही न बने, पुत्र को जन्म देकर ही निश्चिंत न हो जाए, उसे भाग्य के भरोसे न छोड़े। हर मां अपने मातृत्व को प्रबुद्ध बनाए, पुत्र में निरंतर सद्संस्कार भरे, उसे गलत मार्ग पर जाने से रोके। चाहे वह पुत्र को लोरी सुनाए, कथा सुनाए, महापुरुषों का जीवन-चरित्र बताए, सत्साहित्य पढ़ने की प्रेरणा दे, जितने भी माध्यम हैं—संस्कारित करने के, उन सबका उपयोग करे, यह सब वह मातृत्व को जागृत रखते हुए ही कर सकती है। प्रत्येक मां मातृत्व की सार्थकता का साक्षात् दर्शन तभी कर सकेगी।

❖

विलक्षण है हर क्षण—जानें-जीएं

□ साध्वी विश्रुतविभा

□

एक-एक क्षण को जिस व्यक्ति ने विवेक और दृढ़ता के साथ जीया है और हर संघर्ष में आगे बढ़ने को तैयार रहा है—सफलता उस व्यक्ति की प्रतीक्षा करती है। जो व्यक्ति तीव्र पुरुषार्थ से प्रत्येक कार्य में जुट जाता है, उसके लिए सफलता का द्वार सदैव खुला रहता है। जिस प्रकार विशाल वटवृक्ष उसके ही एक लघु बीज में छिपा रहता है, उसी प्रकार हमारी सफलता भी हमारे ही व्यक्तित्व में छिपी रहती है।

प्रत्येक क्षण को जो व्यक्ति जागरूकता के साथ गुजारता है, अपने समय की बचत करता है और दूसरे के समय का भी ध्यान रखता है—सफलता उसके चरण चूमती है। ठीक इसके विपरीत जो अपने समय का मूल्य नहीं जानता और दूसरों का भी समय नष्ट करता है, उसके लिए सफलता के सोपान संदिग्ध ही रहते हैं। नियमित दिनचर्या वाले व्यक्ति अपने व दूसरे—दोनों के समय की बचत करते हैं। वे अपने कर्तव्य के प्रति भी जागरूक रहते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन का सेक्रेटरी विलंब से ऑफिस में आया। राष्ट्रपति ने विलंब का कारण पूछा। सेक्रेटरी ने कहा, 'मेरी घड़ी पीछे चल रही थी, इसलिए समय का पता नहीं चला। राष्ट्रपति उस समय मौन रहे। दूसरे दिन सेक्रेटरी के आने में फिर देरी हो गई। कारण पूछने पर सेक्रेटरी ने वही पूर्ववत् उत्तर दिया। राष्ट्रपति ने कहा, 'या तो तुम अपनी घड़ी बदल लो या मैं अपने सेक्रेटरी का परिवर्तन करूं।' राष्ट्रपति की यह कड़ी चेतावनी सुनकर वह सेक्रेटरी सदा के लिए नियमित हो गया। समय का सही मूल्यांकन ऐसे व्यक्ति ही करते हैं।

> ‘
>
> *वर्तमान में जीने का प्रयत्न करने वाला साधक ही अपनी शक्तियों को जागृत कर सकता है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा है, 'खणा जाणाहि पंडिए—पंडित वह होता है जो वर्तमान क्षण जानता है।' जो-कुछ हमें उपलब्ध होना है वह इसी क्षण में उपलब्ध होने वाला है। अतीत मात्र स्मृति है और भविष्य मात्र कल्पना। केवल अतीत के गीत गाने वाले और कल्पनाओं की उड़ान भरने वाले व्यक्ति अपने जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित नहीं कर सकते।*
>
> □
>
> *प्रत्येक क्षण का रस पा लेने के लिए जरूरी है कि हर क्षण को सार्थकता से जीया जाए। यदि हम उसके रस को पीने में असफल रहे तो 'कालः पिबति तद्रसम्—काल, स्वयं उसके रस का पान कर लेगा।' इसलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—'काले कालं समायरे—हम कोई भी कार्य करें, उसे समय पर करें।'*
>
> ’

समय का प्रवाह सरिता की तरह अविरल गतिमान है। एक क्षण समाप्त होता है कि दूसरा क्षण आ जाता है। दूसरा क्षण समाप्त होते ही नया क्षण आ जाता है। यह क्रम निरंतर जारी रहता है। जो व्यक्ति समय के मूल्य को समझते हैं, वे हर क्षण को विलक्षणता प्रदान कर देते हैं। समय उनके लिए वरदान बन जाता है। गांधी, विवेकानन्द, अल्बर्ट आइन्सटीन और आचार्यश्री तुलसी जैसे अनेक महापुरुषों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने समय के साथ अपने चरणों को गतिशील बनाया और विश्व के मानचित्र पर वे सदा-सदा के लिए अमर बन गए।

संत कबीर ने तो कहा ही है जो कार्य तुम्हें आज करना है, उसे कल पर मत छोड़ो। उसे आज ही पूरा करने की कोशिश करो। कौन जानता है कल क्या होगा? कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे खेत को

चिड़ियां चुग जाए और तुम्हें पश्चात्ताप करना पड़े। इस संदर्भ में एक घटना मननीय है। एक ग्रामीण व्यापारी की दूकान पर चमकीला पत्थर रखा था। एक ग्राहक आया, उसने पत्थर की कीमत पूछी। व्यापारी ने कहा, '100 रुपये।' ग्राहक ने राशि कम करने को कहा, पर व्यापारी अपनी बात पर दृढ़ रहा। ग्राहक ने सोचा—लौटते समय पत्थर ले जाऊंगा। थोड़ी ही देर में दूसरा ग्राहक आया। उसने भी उस पत्थर का मूल्य पूछा। व्यापारी ने कह दिया, '1000 रुपये।' ग्राहक ने पत्थर को बहुमूल्य समझकर तत्काल निर्धारित राशि में खरीदा और अपने घर की ओर रवाना हो गया। कुछ ही घंटों बाद पहले वाला ग्राहक आया। उसी पत्थर के बारे में पूछा। व्यापारी ने कहा, 'वह पत्थर मैंने '1000 रुपये' में बेच दिया। यह सुनकर ग्राहक सन्न-सा रह गया। ग्राहक जानता था कि पत्थर का वह टुकड़ा बड़ा कीमती था। पश्चात्ताप के सिवाय अब उसके पास कुछ भी शेष नहीं रहा। करणीय कार्य को अगले क्षण पर छोड़ने वाला व्यक्ति इसी तरह हाथ मलता है। वह मूल्यवान वस्तु को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है।

'आज' को समग्रता से जीने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति ही उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है। अतीत की मधुर स्मृतियों और भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं में खोने वाला व्यक्ति क्षणिक सुख अवश्य प्राप्त कर सकता है, पर स्थाई सुख नहीं है।

इसी तरह वर्तमान में जीने का प्रयत्न करने वाला साधक ही अपनी शक्तियों को जागृत कर सकता है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा है, 'खणा जाणाहि पंडिए—पंडित वह होता है जो वर्तमान क्षण जानता है।' जो-कुछ हमें उपलब्ध होना है वह इसी क्षण में उपलब्ध होने वाला है। अतीत मात्र स्मृति है और भविष्य मात्र कल्पना। केवल अतीत के गीत गाने वाले और कल्पनाओं की उड़ान भरने वाले व्यक्ति अपने जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित नहीं कर सकते।

प्रत्येक क्षण का रस पा लेने के लिए जरूरी है कि हर क्षण को सार्थकता से जीया जाए। यदि हम उसके रस को पीने में असफल रहे तो 'कालः पिबति तद्रसम्—काल, स्वयं उसके रस का पान कर लेगा।' इसलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—'काले कालं समायरे—हम कोई भी कार्य करें, उसे समय पर करें।' ध्यान के समय ध्यान और मंत्र आराधना के समय मंत्र आराधना करें। अध्ययन के समय अध्ययन करें। भोजन के समय भोजन करें। विश्राम के समय विश्राम करें। जो कार्य जिस समय करने का हो, उसे उसी समय संपादित करने का यत्न करें। हमारे शरीर में एक जैविक घड़ी (Biological watch) काम कर रही है। हमारे कार्यों को व्यवस्थित करने में वह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक संदर्भ द्रष्टव्य है—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी प्रायः मध्याह्न में आजकल आत्मकथा लिखवाते हैं। एक दिन मध्याह्न का समय किसी विशेष मुद्दे पर वार्तालाप के लिए पहले से निर्धारित कर दिया गया। तब उस दिन प्रातःकाल के समय आत्मकथा लिखवा देने के लिए मैंने विनयपूर्वक अनुरोध किया। आचार्यवर ने मुस्कुराते हुए फरमाया, 'मेरी जैविक घड़ी उस समय यह लेखन कार्य कराने के लिए तैयार नहीं होगी। तब लिखाने के लिए मुझे अपने मस्तिष्क पर जोर देना पड़ेगा। नियमित क्रम के अनुसार जिस समय जो मुझे लिखना होता है वही मेरे लिए सहज होता है, उसके लिए मुझे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उस समय मेरी जैविक घड़ी उस कार्य के लिए स्वतः ही चालू हो जाती है।' तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति समय पर अपना कार्य करते हैं वे महत्त्वपूर्ण कार्य निष्पन्न करने में सदैव सफल होते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के पास चौबीस घंटे ही होते हैं। समय का सही उपयोग करके कुछ लोग दार्शनिक बन गए, कुछ वैज्ञानिक और कुछ अध्यात्म के शिखर पुरुष बन गए। कुछ संगीतज्ञ बन गए, कुछ कवि-लेखक बन गए। समय का सही दिशा में जिसने भी नियोजन किया, अपने क्षेत्र में वह विशेषज्ञ बन गया। जो व्यक्ति समय का सही नियोजन नहीं कर पाते वे कोई महान कार्य भी नहीं कर सकते। वे अपने लक्ष्य निर्धारण के अभाव में इधर-उधर भटकते रहते हैं।

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम समय की मूल्यवत्ता का अनुभव करें, उसे सार्थक बनाने का प्रयत्न करें।

पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं।।

आज समय प्रबंधन का स्वर चारों ओर से मुखर हो रहा है। समय प्रबंधन का सूत्र नया नहीं है। भगवान महावीर ने जैन मुनियों की 'समाचारी' में समय प्रबंधन पर बल दिया था। उन्होंने दिन और रात को चार-चार भागों में विभाजित कर दिया।

दिवसस्स चउरो भागे, कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि।।

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करें। दूसरे प्रहर में ध्यान करें। तीसरे प्रहर में गोचरी करें और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करें।

रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि।
पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्ख, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं।।

मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करें। द्वितीय प्रहर में ध्यान करें। तीसरे प्रहर में निद्रा लें और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय में लीन हो जाएं।

शिष्य प्रातःकाल ही गुरु के चरणों में आ निवेदन करते हैं—

वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्वदुक्खविमोक्खणे।।

भंते! आप मुझे सेवा की अपेक्षा हो तो सेवा में नियुक्त करें। मैं सेवा के लिए तैयार हूं। स्वाध्याय करना हो तो मैं स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाऊं।

यह सूत्र समय के सम्यक् नियोजन की ओर संकेत करता है। स्वस्थ, सुंदर और सुनियोजित जीवन जीने की कला है समय का सही नियोजन।

वर्तमान में समय का ज्ञान घड़ी के आधार पर किया जाता है। प्राचीनकाल में हाथ घड़ी, दीवार घड़ी, टेबल घड़ी का आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय दिन में सूर्य की धूप व छाया के आधार पर समय का अवबोध होता था और रात्रि में नक्षत्रों के द्वारा अथवा चंद्रमा की फैली हुई चांदनी के आधार पर समय का निर्धारण किया जाता था। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका वर्णन भी उपलब्ध होता है।

तेरापंथ धर्मसंघ के विद्वान साधुओं में मुनि श्री भीमराजजी एक थे। वे आगम, व्याकरण, ज्योतिष और आयुर्वेद में निष्णात थे। खगोलशास्त्र और भूगोलशास्त्र में भी वे पारंगत थे। अश्विनी, भरणी, रोहिणी, कृत्तिका आदि नक्षत्रों का उन्हें पूरा ज्ञान था। उस समय साधुगण भी नक्षत्रों की घड़ी के आधार पर ही समय का ज्ञान करते थे। वे समय की नियमितता के प्रति पूर्ण जागरूक थे। उनका अध्ययन, अध्यापन, आहारचर्या, विहारचर्या सर्वथा नियमित थी। आज भी समय के सम्यक् नियोजन से ही तेरापंथ धर्मसंघ ने विकास के नए आयाम उद्घाटित किए हैं।

समय का सही नियोजन करने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है। उसके अभाव में व्यक्ति अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता। एक व्यक्ति अपने व्यापार को उन्नत बनाने का यत्न करता है। प्रारंभ में ही अनेक विकल्प पैदा होने लगते हैं—पता नहीं, मुझे अपने कार्य में सफलता मिलेगी या नहीं? ऐसे व्यक्ति कभी भी अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच सकते। कार्य की सफलता के लिए प्रबल इच्छाशक्ति की अनिवार्यता को हम उपेक्षित नहीं कर सकते, पर सफलता के प्रति पहले से ही आशंकित नहीं हो जाना चाहिए। दृढ़ इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति समय का सही नियोजन करके गंतव्य तक पहुंचता ही है।

'समयं गोयम मा पमायए—हे गौतम! क्षण-भर के लिए भी प्रमाद मत करो।' इस सूत्र को आदर्श मानने वाला व्यक्ति प्रतिक्षण जागरूक रहता है। जागरूक व्यक्ति हर क्षण का सदुपयोग करता है। हर क्षण का सदुपयोग करने वाले व्यक्ति का समय-प्रबंधन स्वतः हो जाता है और वह हर पल का आनंद लेता है।

❖

मनुष्य के विकास को यांत्रिक कौशल या बौद्धिक क्षमता की प्राप्ति के साथ जोड़ने का भ्रम नहीं होना चाहिए। मनुष्य की आत्मा का विकास ही मनुष्य का विकास है। आंधुनिक मनुष्य जनसमुदाय में खो गया। वह उन सभी बातों को स्वीकार कर लेता है जो समाज और समाज के—फिल्म, रेडियो, टेलीविजन अखबार आदि—अभिव्यक्ति के साधन उसके सामने रखते हैं। हममें स्वतःस्फूर्त चिंतन में कमी आती है और सत्य को क्षति पहुंचती है। हम महाकाव्यों और शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा, जिनसे हमारे सामने अनेक महान चिंतक प्रकट हो जाते हैं, अपनी आत्मा का विकास करते हैं। यद्यपि हम शारीरिक रूप में अपने देश और युग से जुड़े हैं, ज्ञानपिपासु के रूप में हम सभी शताब्दियों और युगों से जुड़े हुए हैं।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन्

कहानी

अम्मा का बेटा

कृष्ण कुमार

कल रात सिनेमा देखते समय जब अजय ने अम्मा का हाथ खींचा और अपनी नन्ही हथेलियों में रखे रहना चाहा, तो अम्मा ने अपनी वह डांट-जैसी बात फुसफुसाकर दोहरा दी जो उन्होंने पिछले महीने से शुरू कर रखी है, 'अब तुम बड़े हो गए हो।' फिर हाथ वापस चला गया और परदे की औरत अजय को घूरने लगी।

दिन में दस बार अजय सुनता है कि वह अब बड़ा हो गया है और इसलिए उसे अमुक काम नहीं करना चाहिए। अजय सोचता रह जाता है, इस घर में क्या-क्या बड़ा है? पपीते का पेड़, पिताजी की कुर्सी, चीनी का डिब्बा...आखिर वह किसकी तरह बड़ा हो रहा है?

अजय जब कुछ भी करता है, उसे पहले शक होता है कि वह अपनी उम्र के लायक काम कर रहा है कि नहीं? कभी-कभी सोचता है कि अगर वह काम अभी नहीं करेगा, तो फिर कभी कर भी पाएगा कि नहीं? अम्मा का हाथ अब क्या वह कभी नहीं खींच सकेगा? कुर्सी के नीचे अब कभी नहीं घुस सकेगा? ऊपर वाले कमरे की खिड़की पर घोड़े की तरह वह कभी नहीं बैठ सकेगा? इतनी ढेर-सारी चीजें हैं, जिन्हें वह अभी नहीं छोड़ना चाहता। लेकिन यह बड़े होने का भूत!

> ‘गिलहरी जैसे वह क्यों नहीं फिसलता? धूप होती तो शायद जरूर फिसलता। लेकिन अम्मा ने बताया है कि जमीन के खेल अच्छे नहीं होते। उनसे चोट लग जाती है। चोट न भी लगे तो धूल लग जाती है।...पर सड़क पर तो हर वक्त बच्चे खेलते रहते हैं। बड़े-बड़े सुथने और फटी बनियानें पहने बच्चे लकड़ी की गेंद से हाकी खेलते हैं। कौन हैं ये? छोटे या बड़े? अम्मा इन्हें 'सड़क वाले' बच्चे कहती हैं। धूल में सड़क वाले बच्चे ही खेलते हैं। गाली भी वे ही दे सकते हैं। बारिश में नहा भी वे ही सकते हैं। नीम पर चढ़ भी वे ही सकते हैं। अजय कुछ नहीं कर सकता। वह पड़ा रहेगा, बस पड़ा रहेगा, कुछ नहीं करेगा। क्योंकि वह सड़क वाला बच्चा नहीं है। वह कैसा बच्चा है?’

यह भूत जैसे उसका हर वक्त का साथी हो गया है। वह कुछ भी करे, उसे लगता है कि कोई उसे देख रहा है। वह चौकन्ना होकर यों ही इधर-उधर देखता रहता है। कहीं कोई नहीं होता पर लगता है जरूर कोई कहीं-न-कहीं छिपा होगा और अभी एकदम सामने आकर कहेगा, यह काम इतने बड़े बच्चे को नहीं करना चाहिए।

कक्षा में भी मास्टर साहब अक्सर कहते हैं, यह तो तुम लोगों को दो बरस पहले ही पढ़ लेना चाहिए था। अजय सोचता रह जाता है कि जो दो बरस पहले नहीं पढ़ा, वह क्या अब नहीं पढ़ा जा सकता? या शायद मास्टर साहब वह सब पढ़ा देना चाहते हैं, जो इसी समय पढ़ा जाना चाहिए, जिससे कोई दो बरस बाद फिर से यह न कहे कि ये बातें तुम्हें दो बरस पहले पढ़ लेनी चाहिए थीं। दो-दो के टुकड़े आखिर कब तक चलेंगे? वह जिस टुकड़े में है, उसे कैसा होना चाहिए : छोटा या बड़ा?

रात में पेशाब करना हो या दिन में टट्टी, अजय का हर काम जैसे एक पहरेदार की आंख बचाते-बचाते होता है। स्कूल का काम करते-करते कापी पर स्याही का एक धब्बा लग जाए, तो अजय घबरा जाता है। अम्मा, मास्टर साहब, शायद

पिताजी भी—सब जैसे एक साथ चिल्ला पड़ेंगे : इतने बड़े बच्चे की कापी पर धब्बा नहीं लगना चाहिए।

स्याही-सोख्ता ढूंढ़ने के लिए अजय सारी किताबें पलटता है। हड़बड़ी में कुछ नहीं मिलता, तो घबराकर पहले कमरे का दरवाजा बंद करता है, फिर कोने से मिट्टी लेकर स्याही के फफोले पर डाल देता है। स्याही का सूखता घेरा!...

...ठीक ऐसे ही उसके कितने घाव सूखे होंगे, जो अकेले में लगे और अकेले में उसने सुखा दिए—पाजामे के नीचे। एक बार ब्लेड से हाथ कट गया था, तो तीन दिन तक उसने अपना हाथ निकर की जेब में छिपाए रखा था। अम्मा ने समझा होगा कि बड़े लड़कों की तरह जेब में हाथ रखने की आदत डाल रहा है।

सच तो यह है कि वह किसी को परेशानी नहीं देना चाहता। वह कुछ कर बैठता है, तो जैसे सारे घर में कोहराम मच जाता है। सब लोग उसके सिर पर इकट्ठे हो जाते हैं। आखिर लोग अपने काम से काम क्यों नहीं रख सकते? वही बचा है दुनिया में देखने को? देखो, देखो, डटकर देखो कि मेरा दांत टूट गया है, मुझे बुखार चढ़ा है, मेरा माथा चूल्हे की तरह गर्म है और मैं एक सजे-धजे घोड़े पर धम्म-से कूदकर तुम्हारे सारे दरवाजे एक साथ तोड़कर भाग जाऊंगा।

...घोड़ा, टप्-टप् करता हुआ वापस आता है, तो सारे दरवाजे ठीक-ठाक और बंद मिलते हैं। घोड़े में इतनी ताकत नहीं कि फिर से उन्हें तोड़ दे। इतनी जल्दी इन लोगों ने ये दरवाजे कैसे ठीक करवा लिए?

शायद हर वक्त कोई मिस्त्री काम पर लगा रहता है—ठक्, ठक्, ठक्, ठक्, ठक्, ठक्—इस ठक्-ठक् के मारे अजय किसी काम में मन कैसे लगाए? पर इतना-सारा काम करना है। क्या ही अच्छा हो कि वह कुछ न करे। वह न कुछ करेगा, न कोई देखेगा। वह लगातार सोता रहेगा, तकिए की तरफ मुंह करके। नहाना, खाना कुछ नहीं। लेकिन फिर घर में लोग इकट्ठे होंगे...अजय को शायद बुखार है; इतना सुस्त क्यों है? सुबह से लेटा है।...

सुबह से लेटे-लेटे अजय एक बजे जगा। देखा, अम्मा सोई पड़ी थीं। बाहर बेहद गर्मी थी। खाने के बाद अम्मा देर तक बैठ नहीं पातीं। चार-पांच बजे तक सोती हैं। अजय ने सोचा कि कितना अच्छा है कि अम्मा थोड़ी देर आराम कर लेती हैं।

वह चुपके-से खाट से कूदा। खाट की रस्सी ने हल्की-सी चूं की। उसने अम्मा को देखा, कुछ नहीं हुआ। अजय ने अगला कदम बढ़ाया। अम्मा की चारपाई पर नजर रखकर वह पास खड़ी मेज के नीचे से गुजरा और हल्के-से दरवाजा खोला। इतनी-सी परेशानी, और बाहर।

आंगन में धूप बरस रही थी। पैरों में स्याही के फफोले पड़ जाएं अगर कोई नंगे पैर चले। चप्पल अम्मा की चारपाई के नीचे पड़ी थीं—बड़ी चप्पल! पर अब उसे लेने गया, तो क्या पता कुछ गड़बड़ हो जाए। कमरे में इतनी सारी चीजें रखी रहती हैं और सब कोई-न-कोई आवाज निकालने को तैयार। चर्र, चूं, ठक्, या यों ही कुछ; और अम्मा इन सब आवाजों को पहचानती है।

आंगन के पार अमरूद का पेड़ है, गेहूं सूख रहा था। वहां छाया थी। अमरूद पर गिलहरी होगी, गेहूं पर चिड़ियां फुदक रही थीं। चिड़ियों के पैरों में भी स्याही के फफोले पड़ें, तो कितना मजा आए। सारा-का-सारा गेहूं रंग जाए। अमरूद के नीचे गर्मी नहीं है। गिलहरियों को तो वैसे भी गर्मी नहीं लगती। देखा नहीं, कैसे फिसलकर चिलचिलाता आंगन पार कर लेती हैं।

गिलहरी जैसे वह क्यों नहीं फिसलता? धूप होती तो शायद जरूर फिसलता। लेकिन अम्मा ने बताया है कि जमीन के खेल अच्छे नहीं होते। उनसे चोट लग जाती है। चोट न भी लगे तो धूल लग जाती है।...पर सड़क पर तो हर वक्त बच्चे खेलते रहते हैं। बड़े-बड़े सुथने और फटी बनियानें पहने बच्चे लकड़ी की गेंद से हाकी खेलते हैं। कौन हैं ये? छोटे या बड़े? अम्मा इन्हें 'सड़क वाले' बच्चे कहती हैं। धूल में सड़क वाले बच्चे ही खेलते हैं। गाली भी वे ही दे सकते हैं। बारिश में नहा भी वे ही सकते हैं। नीम पर चढ़ भी वे ही सकते हैं। अजय कुछ नहीं कर सकता। वह पड़ा रहेगा, बस पड़ा रहेगा, कुछ नहीं करेगा। क्योंकि वह सड़क वाला बच्चा नहीं है। वह कैसा बच्चा है?

...अपनी अम्मी का बेटा। सड़क वाले बच्चों और उसके बीच नानी-अम्मा खड़ी हो जाती हैं। उनका मुस्कराता चेहरा उसकी तरह होता है। अजय को अम्मा के इस बिचौलिएपन से कभी-कभी नफरत-सी हो जाती है। अम्मा मुस्करा रही हैं और वह उनके पीछे धूल में खेल रहे बच्चों को देखे जा रहा है। फिर अम्मा उसका हाथ पकड़कर अंदर ले जाती है। बाहर बड़ी धूप है, जिसमें घूमने से बुखार चढ़ जाता है।

न वह कभी गिलहरी की तरह फिसल सकेगा; क्योंकि अब वह बड़ा हो गया है।...

तभी उसका ध्यान गेहूं के पास स्टोव साफ करती प्रेमा पर गया। प्रेमा घर की नौकरानी है। अम्मा शायद यह कहकर सोई हैं कि स्टोव आज ही साफ हो जाना चाहिए। वर्ना इतनी गर्मी में प्रेमा भी क्यों नहीं सो जाती...? हर वक्त काम करने वाली बूढ़ी प्रेमा के लिए क्या वह कुछ भी नहीं कर सकता?

अजय के मन में एक शानदार खयाल आया और उसका दिल जैसे आंगन के गर्म पत्थरों पर कूद पड़ा। वह स्टोव साफ करेगा। प्रेमा कोई और काम कर लेगी या वहीं अमरूद की छाया में या बरामदे में आराम कर लेगी।

दिल की एक छलांग और अजय नंगे पांव दौड़ता हुआ अमरूद के पेड़ के नीचे जा पहुंचा। गेहूं चुग रही सारी चिड़ियां फुर्र-से उड़ गईं और कुछ दाने अजय के पैरों से लगकर फर्श पर फैल गए। वह सकपका गया; क्योंकि उसे मालूम था कि प्रेमा कुछ-न-कुछ कहेगी।

'भैया देखो, सब बगरा दिया तुमने।'

'क्या हुआ? जरा-सा तो बिखरा है।'

वह वहीं खड़ा-खड़ा पैरों से गेहूं के दाने समेटने लगा।

'लो अब और फैलाओगे? बस रहने दो, मैं समेट लूंगी।'

प्रेमा स्टोव के पास पड़े कपड़े से हाथ रगड़कर उठी। अजय ने देखा कि उसकी मंजिल खाली हो गई है—कुछ करने का वक्त आ गया है। गंदा कपड़ा और तेल। इस वक्त कोई नहीं देख रहा सिवा प्रेमा के, और प्रेमा से वह डरता नहीं। कभी कहा है प्रेमा ने कि वह इतना बड़ा हो गया है वगैरह?

अजय गेहूं को लांघकर स्टोव के पास पहुंचा और बैठकर उस पर झुक गया। प्रेमा ने सिर मोड़कर देखा—'अरे, तुम फिर परेशान करने लग गए। अंदर जाकर सो रहो। अभी तो तुम्हें बुखार चढ़ा था।'

'मैं साफ करूंगा। बुखार उतर गया है।'

'तुम्हारे बस का नहीं है, भैया! गंदा तेल है—सब कपड़े भिड़ा जाएंगे। बुखार से उठकर आराम करना चाहिए।'

'कोई बात नहीं। मैं साफ करूंगा। तुम पंद्रह मिनट बाद आना। जाओ, थोड़ा सो लो।...नहीं सोना तो कुछ और करो।'

प्रेमा समझ गई की भैया जिद पकड़ गए हैं। अम्मा सो रही हैं, इसलिए डर नहीं। और इतनी गर्मी में वह भी कुछ देर के लिए बैठी रहना चाहती थी। सुबह से दम मारने की फुरसत नहीं मिली—न कभी मिलती है। गेहूं बटोरकर जाने लगी, तो फिर कुछ मन में आया...

'देखो, ज्यादा गंदे नहीं होना। मैं अभी आती हूं।'

अजय का मन जैसे किसी ने फाड़कर खोल डाला—नहाते वक्त बुशर्ट के बटन एक-एक करके खोलने में कितनी तकलीफ होती है। प्रेमा को जाने देने के लिए सारे दरवाजों की सिटकनियां अपने-आप चट-चट गिरी पड़ रही हैं। पीछे-पीछे बंद भी होती चलती हैं।

अजय अकेला हो गया है, अकेला कुछ करेगा। कोई देखने वाला नहीं कि उसकी उम्र का काम है कि नहीं। कह लो, कह लो जो कहना है—यह काम अम्मा के बेटे का है या सड़क वाले बच्चों का। थोड़ी देर ही सही, वह बिल्कुल अकेला रहेगा और अपना मनपसंद काम करेगा। अमरूद के पेड़ के नीचे। गिलहरियों के साथ।

उसने आराम से अपने सफेद पाजामे का नाड़ा ढीला किया और कमीज के बटन खोले—ठीक उसी अंदाज में जैसे उसने मोटरों की सफाई करने वालों को देखा था। फिर कपड़े एक तरफ रखकर दोनों हाथों की उंगलियां बालों में फिराईं। बाल कैसे सूखे-सूखे, पर अच्छे-अच्छे लग रहे हैं। एक क्षण में जैसे अजय के सिर में बालों के लच्छे हो आए।

उसने एक गहरी सांस ली और स्टोव पर झुक गया। शीशी का कवर अलग किया, शीशी सीधी की, उसका स्प्रिंग वाला ढक्कन खोला। अरे! यह गंदा तेल ढक्कन में फंसा था? अजय ने अपनी सफेद चड्डी देखी, जिस पर एक धब्बा बन गया था। चितकबरा धब्बा—कापी के फफोले से बिल्कुल अलग, क्योंकि यह धब्बा फैलने लगा। स्याही-सोख्ते का फफोला। धब्बे के साथ अजय के मन में भी कुछ फैलने लगा—डर या संतोष?

उसने अपनी गदेली दाग पर रगड़ दी। इससे दाग हटना तो दूर रहा, उंगलियों के निशान सफेदी के और बड़े इलाके में लग गए। दाग हटाना कौन चाहता था? अब इतनी-सारी गंदगी देखकर अजय की घबराहट—घबराया कौन था?—एकदम से साफ हो गई, जैसे छलनी में जमी चाय हटा देने के बाद सारा पानी बह जाए।

अजय ने एक बार फिर अपनी उंगलियां बालों में फिराईं। इस बार उनमें गंदा तेल लगा था। माथे पर आने की कोशिश करते बालों को अंगूठे से झटक दिया। इससे माथे

पर भी गंदे तेल का दाग लग गया। यह दाग अजय को नहीं दीखा, पर वह जान गया कि दाग लगा है। अम्मा की टीका। अब कोई डर नहीं और उसके मुंह से दूसरी गहरी सांस निकल गई। फिर से चेहरा स्टोव पर झुक गया।

अबकी बार तेल की नली, उसका स्क्रू और लोहे की जाली साफ होनी थी। झाड़न को हाथ में लपेटकर गोल जाली के भीतर घुमाने में कितना मजा आता है। गर्म फर्श पर फिसलती गिलहरी।

तभी एक खटका हुआ और अजय के अंदर रहने वाला भूत रबर के बूढ़े की तरह खड़ा हो गया। वही भूत जिसे घुट्टी पिलाकर अजय अपना छोटे-से-छोटा काम कर पाता है। इतनी गर्मी में भूत? यह क्या—भूत गरज रहा है। इतनी गंदगी के बीच, इतना सामान बिखराकर अजय मानो अम्मा के बेटे से कोसों दूर बैठा था—वह भी बिना पाजामे के। भूत चिल्लाता गया और अजय की आंखों ने आंगन के पार कमरे से निकलती अम्मा को देखा। लोहे की सपाट जाली में जैसे कहीं कील निकल आई। गिलहरी घोड़े की टाप के नीचे आ गई।

अम्मा कमरे से बाहर निकलीं और उन्होंने जोर से प्रेमा को आवाज लगाई। अजय को जैसे कुछ सुनाई न दिया। सुने कैसे? यह भूत तो इतनी जोर से गरज रहा है। अजय किसी अदृश्य बल के उछाल से खड़ा हो गया, जैसे थोड़ी देर पहले उसका भूत खड़ा होकर गरजने लगा था। अजय अपनी कलाइयों को चड्डी पर रगड़ने लगा। गदेलियां गंदी थीं और अब वह चड्डी और ज्यादा गंदी नहीं करना चाहता था...

एक सेकेंड में क्या-क्या साफ हो जाएगा? इतने-सारे दरवाजे एक साथ कैसे बंद हो जाते हैं? खुलने में कितनी दिक्कत हुई थी। अब तो खटखटाने का भी वक्त नहीं है और खटखटाएगा ही तो कितने दरवाजों पर। खोलो, खोलो, घोड़ा प्यासा है। देखते नहीं, मुझे बुखार चढ़ा है?

जितनी तेजी से वह खड़ा हुआ था, उतनी ही तेजी से उसके दिमाग में यह खयाल घुसा कि वह कपड़े नहीं पहने है, लगभग नंगा है। अम्मा का बेटा सड़क वाले बच्चों जैसा नहीं दिखना चाहिए। उसकी एकबारगी इच्छा हुई कि कूदकर कपड़ों में घुस जाए। पर वह जान गया कि अब देर हो चुकी है।

लेकिन वहां इस तरह खड़े रहने से बेहतर है कि वह फिर अपने काम में लग जाए। पर अब अम्मा देखेंगी। देखें, देखें, क्या देख लेंगी? कि मैं नंगा हूं, यही न? यह गंदा काम कर रहा हूं, यही न? क्यों न वह ही कुछ कह दे—'अम्मा देखो, मैं कितनी अच्छी तरह स्टोव साफ कर रहा हूं।'

यह कहकर अजय का दिल कुछ फैला। भूत को घुट्टी पिलाने की जगह क्यों न एक घूंसा दिया जाए? अजय की मुलायम मुट्ठी कसी कि अम्मा बरामदे में से निकलती प्रेमा पर बरस पड़ीं।

अजय को फिर कुछ सुनाई नहीं पड़ा। अम्मा इतनी जोर से गरजीं, पर अजय के चेहरे पर शिकन नहीं। क्या इसलिए कि डांट प्रेमा पर पड़ रही थी? अजय को भी पड़ जाए—और शायद पड़ ही जाए—तो क्या? उसे लगा कि अम्मा और भूत एक साथ गरज रहे हैं। गरज-गरजकर उसे दबा देंगे। तभी अम्मा का आखिरी वाक्य उसके कानों में पड़ा—'चल उठ बेटे, उठ। देख, तेरे कपड़े कितने गंदे हो रहे हैं।'

अजय ने हाथ झाड़े। उसका भूत विश्राम की हालत से 'अटेंशन' में आ गया था। उसने अपनी चड्डी देखी। सचमुच कितनी गंदी हो गई थी। बनियान के बाजुओं में से झूलती बांहें और चड्डी के घेरे में सिमटी जांघें उसे दुबली मालूम हुईं। अश्लीलता का शैशवाभास उसकी आंखों में तैर गया। वह गेहूं के ऊपर से कूदा और चिड़ियां फिर 'फुर्र' हो गईं। गेहूं के पार फर्श की गर्मी तलवों में चुभ गई। गिलहरी की तरह बच्चे नहीं फिसला करते... ❖

हम आपसे शांति की आशा नहीं कर सकते, मानसिक संतुलन की आशा कर सकते हैं। वह होगा तो शांति अपने-आप हो जाएगी। शांति मानसिक संतुलन का परिणाम है, उसका स्वतंत्र मूल्य नहीं है।

—मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

वंशी माहेश्वरी की कविताएं

उद्भव

जीवन उद्गम में
जीवन के बाहर होने का
संदेह छिपा है

मृत्यु
संशय के बाहर होकर
अपनी अथाह शांति के
पवित्र आलोक में
प्रकाशित होती है
संपूर्ण।

रास्ता

मृत्यु की
आने जाने की
पैतृक परंपरा को
नहीं जानते

नहीं जानते
आने जाने के बीच
जो रास्ता छूट गया है
वह उसकी स्मृतियों का
जीवित इतिहास है
या
प्रायश्चित्त का बीजमंत्र।

औरत

औरत!
शब्द कहते ही कितने अर्थ
भाषा की नदी में बहकर
किनारे लग जाते हैं
थके, उदास, शांत, स्तब्ध!

औरत!
शताब्दियों से पवित्रता के साथ
पृथ्वी के अतीत में
अनंत आकाश के विस्मय में
मनुष्यों की मानवीय दहशत के भीतर
विभाजित होती हुई
अखंडित है!

औरत!
शब्दों की आत्मा में
पुनर्जन्म लेती हुई
परास्त जीवन में
चेतावनी की तरह खड़ी है!

औरत!
स्वप्निल स्पंदन में
स्मृतियों की
अगाध परंपरा में
अभिशप्त है!

औरत!
विषाद रंगों से
अपाहिज मुक्ति चित्र बनाती है
रंगों की अंतहीन पर्तों से बहकर
मर्मांत चीख
फैल जाती है
सभ्यता के निर्वासित जीवन में!

औरत!
मृत्यु के जीवन की
लयबद्ध संभावनाओं में अवसन्न
धार्मिक पवित्रता
और आदिम बर्बरता के
दुस्साहस में
असीम हो रही है!

औरत!
भयभीत कबूतर की आंख है
जो शांति की परम नींद में
निस्पंद स्वप्न देख रही है!

* * *

शीलन

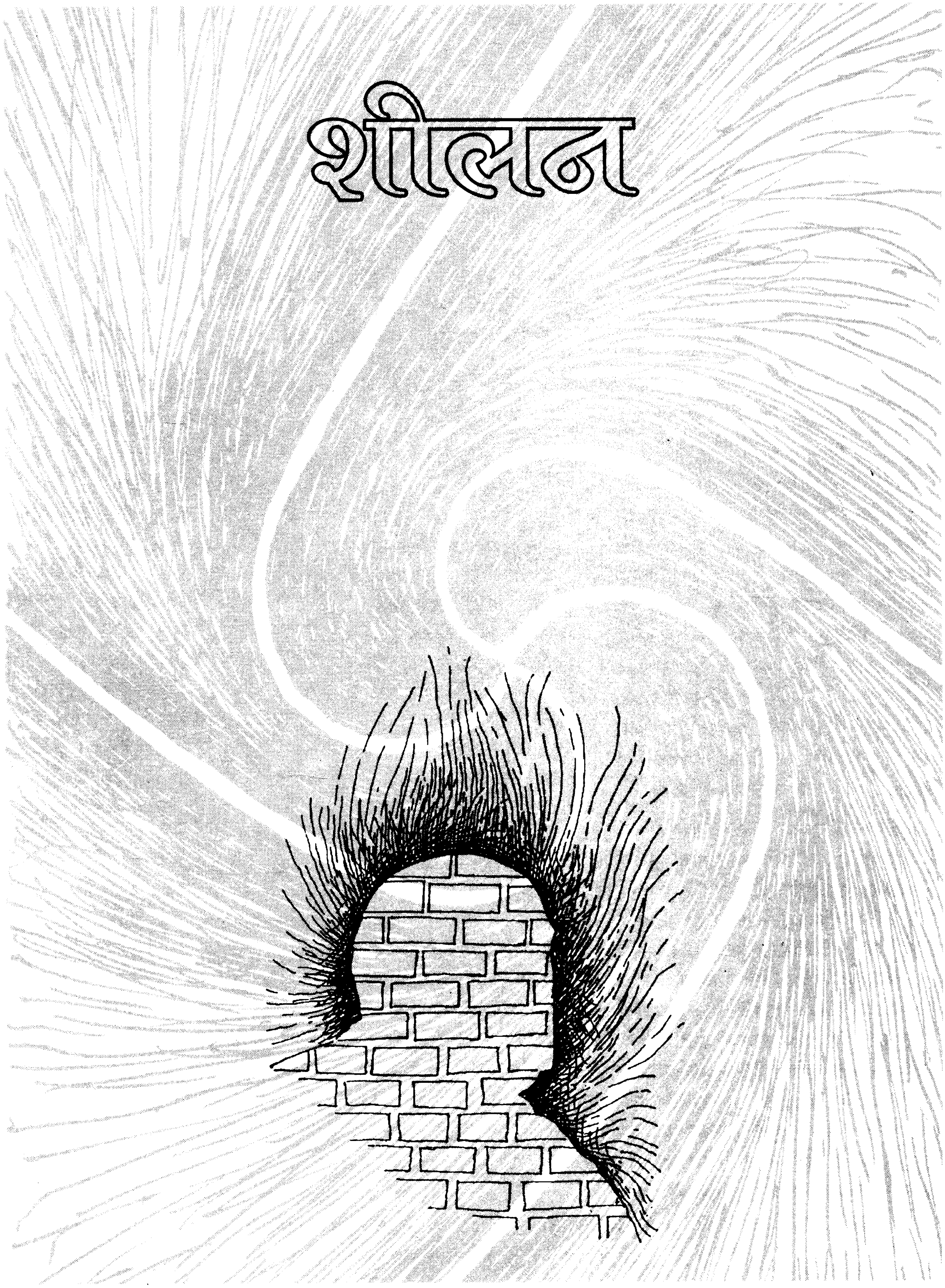

मेरे विचार से सांप्रदायिकता के लिए धर्म जिम्मेदार नहीं है और न ही धर्म-निरपेक्षता को धर्म के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की जरूरत है। परंतु धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में, धर्म में अनुचित हस्तक्षेप का विरोध होना चाहिए। विशेषकर राज्य, राजनीति एवं आर्थिक क्षेत्रों से धर्म को पूरी तरह अलग रखा जाना चाहिए। जैसा कि गांधीजी ने 1946 में कहा था : 'यदि मैं एक डिक्टेटर होता तो धर्म और राज्य को अलग कर देता। मुझे अपने धर्म पर भरोसा है। मैं उसके लिए जान दे सकता हूं। पर वह मेरा निजी मामला है।'

—**बिपनचंद्र**

परस्परं भावयन्तः

❑ श्रीमन्नारायण

इस समय तो हमारे देश में सभी संस्थाएं पारस्परिक एकता द्वारा मजबूत होने के बजाय टूट रही हैं। राजनीतिक दलों में कम्युनिस्ट पार्टी के दो-तीन टुकड़े तो कई वर्ष पहले हो चुके थे। सोशलिस्ट दल के कब और कितने टुकड़े हो गए हैं, इसकी ठीक गिनती करना जरा कठिन है। फिर गांधी शताब्दी वर्ष के दरम्यान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भी दो भाग हुए बिना नहीं रहे और इस वजह से देश की राजनीतिक स्थिरता पर स्वभावतः गहरा प्रभाव पड़ा। जनसंघ में कुछ दरारें दिखलाई देती हैं और स्वतंत्र पार्टी तो छिन्न-भिन्न ही हो गई। सबसे दुख की बात तो यह है कि गांधी-परिवार में भी गहरी फूट पैदा हो गई हैं। सर्व सेवा संघ, जो विभिन्न रचनात्मक संस्थाओं का एक व्यापक संगठन था और जिसे कुछ महीने पहले आचार्य विनोबा ने पूज्य बापू की कल्पना के अनुसार 'लोक सेवक संघ' की संज्ञा दी थी, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। 'मौन' अवस्था के पश्चात् वह जीवित रहेगा या विसर्जित हो जाएगा, यह एक पहेली बन गई है। जिस गांधी ने हमारे राष्ट्र में एकता व राष्ट्रीयता की जान फूंकी और उसे आजाद किया, उसी के परिवार के भाई-बहन आपसी राग-द्वेष के भंवर में डूबने लगे हैं। इससे अधिक रंज का विषय और क्या हो सकता है!

> *'गांधी विचार के प्रमुख व्याख्याताओं में से एक श्रीमन्नारायण ने यह आलेख कोई 28-30 वर्ष पूर्व लिखा था। देश के उस समय के जो हालात इस आलेख में चित्रित हुए हैं, कमोबेश आज भी ये ही हालात हैं। लेखक ने इन हालातों पर रोशनी तो डाली है, साथ ही समाधान के मार्ग भी सुझाए हैं। आज भी ऐसा लगता है कि समस्याओं का समाधान टकराव में नहीं है, पारस्परिकता में ही है। महात्मा गांधी की पुण्यतिथि इसी जनवरी मास में है, अतः बापू का पुण्य-स्मरण करते हुए तब का लिखा यह आलेख—'परस्परं भावयन्तः' ज्यों-का-त्यों जैन भारती के पाठकों के लिए—'*

आखिर, यह सब क्यों हो रहा है? भारत की प्राचीन परंपरा तो समन्वय व समग्रता की कड़ी रही है। हमारे ऋषियों व पूर्वजों ने 'विश्व-मानुष' व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जीवन-दर्शन हमें प्रदान किया था। 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः' प्रार्थना उनके आश्रमों से प्रतिध्वनित होती रहती थी। उनका सर्व-धर्म-समानत्व का संदेश राष्ट्र के विभिन्न वर्गों व समूहों को प्रेम व सहिष्णुता के सूत्र में सदा बांधे रहता था।

किंतु इतिहास दर्शाता है कि हम जब धर्म, भाषा व प्रदेशों की भिन्नता के बावजूद एक रहे तब राष्ट्र ने तेजी से तरक्की की और अपना प्रभाव पड़ोसी प्रखंडों पर डाला। लेकिन जब कभी हम आपसी मतभेदों व स्वार्थों के कारण एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने में व्यस्त हो गए तभी राष्ट्र कमजोर पड़ा और हमारी स्वतंत्रता भी खंडित हुई। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारत जैसा विशाल राष्ट्र तभी विकसित व सुदृढ़ हो सकता है जब उसके नागरिकों के दिल और दिमाग विशाल व संतुलित हों। यदि हमारी बुद्धि व हृदय छोटे व संकुचित बन जाते हैं तो

फिर हमारा देश बड़ा कैसे रह सकेगा? किसी कवि ने ठीक ही लिखा है—

व्यक्ति त्याज्य परिवार हेतु,
परिवार त्याज्य यदि नगर दुखी हो,
नगर त्याज्य जनपद के आगे,
सभी त्याज्य यदि राष्ट्र सुखी हो।

गीता के तीसरे अध्याय में पुरुषोत्तम कृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का मर्म समझाते हुए आदेश दिया है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु. वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

यानी 'हम कर्म-यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करें, और देवगण हमारी उन्नति करें। इस प्रकार हम पारस्परिक उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हों।' मेरी दृष्टि से इसका सच्चा अर्थ यही है कि निष्काम कर्म-यज्ञ द्वारा हमारा आपसी व्यवहार ऐसा हो कि भौतिक व आध्यात्मिक कल्याण का सम्यक् विकास होता रहे। हमारी साधना सामूहिक हो, और हम एक-दूसरे से द्वेष न करें—

सह वीर्यं' करवावहै। तेजस्विनावधीतम् अस्तु।
मा विद्विषावहै।

तभी सुख, शांति व समृद्धि प्राप्त हो सकेगी।

ईसामसीह ने अंतकाल में अपने शिष्यों से कहा था। 'तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्यार करो जैसे मैंने तुमसे प्रेम किया है।' साधारण नागरिकों के लिए भी उनका उपदेश था—'तुम अपने पड़ोसी से वैसे ही प्यार करो जैसे तुम अपने से करते हो।' मुहम्मद पैगंबर ने अपने साथियों व शिष्यों को बार-बार यही समझाया—'जिन्हें ईश्वर में श्रद्धा है, जो धीरज और प्रार्थना के साथ संसार में जोड़ने का काम करते हैं, उन्हीं का इहलोक व परलोक सफल होता है।'

भगवान बुद्ध के शिष्यों में आपसी द्वेष व कलह रहती थी, वे एक-दूसरे की निंदा किया करते थे। लेकिन भगवान उन्हें सदा यही उपदेश देते रहते थे—'वैर से वैर कभी शांत नहीं होता, वह प्रेम से ही शांत हो सकता है।'

हम जब धर्म, भाषा व प्रदेशों की भिन्नता के बावजूद एक रहे तब राष्ट्र ने तेजी से तरक्की की और अपना प्रभाव पड़ोसी प्रखंडों पर डाला। लेकिन जब कभी हम आपसी मतभेदों व स्वार्थों के कारण एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने में व्यस्त हो गए तभी राष्ट्र कमजोर पड़ा और हमारी स्वतंत्रता भी खंडित हुई। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारत जैसा विशाल राष्ट्र तभी विकसित व सुदृढ़ हो सकता है जब उसके नागरिकों के दिल और दिमाग विशाल व संतुलित हों। यदि हमारी बुद्धि व हृदय छोटे व संकुचित बन जाते हैं तो फिर हमारा देश बड़ा कैसे रह सकेगा?

एक दिन मैंने महात्मा गांधी से पूछा—'आपके सेवाग्राम आश्रम में कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें साधारण समाज में किसी प्रकार का स्थान मिलना शक्य न होगा। वे आपस में प्रेम से भी नहीं रहते। फिर उन्हें आश्रम में क्यों रखा गया है?'

बापू ने मुस्कराकर उत्तर दिया—'मेरा आश्रम तो एक तरह का 'शंभु-मेला' है। जिनकी दुनिया में किसी से नहीं बनती, मैं उनसे भी यहां कुछ-न-कुछ काम ले रहा हूं। आश्रम मेरे लिए अहिंसा व धीरज की प्रयोगशाला है।'

कुछ समय पहले ऋषि विनोबा ने 'परस्परं भावयन्तः' के आदर्श को समझाते हुए कहा था—'सामूहिक साधना के लिए यह जरूरी नहीं है कि हमारे विचार एक-से हों। हां, हमारे हृदय एक हों, हम मतभेदों को दूर करने के लिए आपस में खुली व मुक्त चर्चा अवश्य करें, लेकिन किसी तरह की कटुता व मनमुटाव न रहे।' उन्होंने होमियोपैथी की दवाइयों का जिक्र करते हुए समझाया—'इन ओषधियों को जितना घोटा जाए उतनी ही उनकी पोटेन्सी या शक्ति बढ़ती जाती है। किंतु घोटते समय शक्कर मिलाना जरूरी है। शक्कर न डाली जाए तो दवा जहर बन जाती है और शक्कर मिलाते रहने से वही अमृत हो जाती है। इसी तरह हम आपसी चर्चा खूब करें, लेकिन मिठास के साथ, प्रेम में कमी न आने पाए।'

कई वर्ष पहले नैनीताल के नजदीक त्रिकाल-दर्शी नीमकरोली बाबा ने भी हमसे बिल्कुल सरल भाषा में यही कहा था—

'भारत ऋषि-मुनियों का देश है। कई तूफान आएंगे और निकल जाएंगे, किंतु भारत का कुछ न बिगड़ेगा। हां, आपस में प्रेम करते रहो। बस, फिर सब ठीक ही रहेगा।'

भगवान महावीर के उपदेशों में एक बड़े मार्के की बात है। उन्होंने आज्ञा दी थी कि सब धर्मों, पंथों व मानवों में जो सत्य का अंश है, उसे ग्रहण करना चाहिए। किसी एक ही मजहब, पंथ या व्यक्ति के पास संपूर्ण सत्य है, यह

मानना उचित नहीं है। पूज्य विनोबा ने इस गूढ़ विचार का विवेचन करते हुए हमें एक नया शब्द दिया है—'सत्यग्राही'। 'सत्याग्रह' का विचार महात्मा गांधी ने दिया, और 'सत्यग्राही' का आदर्श भगवान महावीर ने। यदि हम सच्चे अर्थ में सत्य के ग्राही बनते हैं और अपने साथियों की बुराइयों के बजाय उनके गुणों को देखने व ग्रहण करने का प्रयास करते रहते हैं तो फिर हृदय-भेद होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। हम आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने अवगुणों को हटाने की कोशिश करेंगे। संत कबीर गाते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझ सा बुरा न कोय।

हाल ही में जैन धर्म के विभिन्न पंथों का सार 'समण-सुत्तं' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सर्वसम्मति से 756 गाथाएं शामिल की गई हैं। जो कार्य पिछले ढाई हजार वर्षों में नहीं हो पाया, वह ऋषि विनोबा की प्रेरणा से पूरा हो सका, यह बड़े संतोष का विषय है। इस ग्रंथ का 24वां सूत्र इस प्रकार है—

यदिच्छसि आत्मतः, यच्च नेच्छसि आत्मतः,
तदिच्छ परस्यापि च, एतावत्कं जिनशासनम्।

अर्थात् 'जो तुम अपने लिए चाहते तो वही दूसरों के लिए भी चाहो, तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिनशासन है'—तीर्थंकर का उपदेश है।

कुछ इसी तरह का चिंतन अन्य धर्म-ग्रंथों में भी पाया जाता है। अगर हम यह भली-भांति महसूस करने लगें कि एक ही निर्मल व अमर ज्योति सब प्राणियों में विद्यमान है तो फिर पारस्परिक सद्भावना व मुहब्बत हमें सहज ही प्राप्त हो जाएगी। छोटी-छोटी बातों को लेकर मन-मुटाव का संचार असंभव होगा। मनु महाराज ने स्पष्ट आश्वासन दिया है—

एवं यः सर्व-भूतेषु पश्यति आत्मानमात्मना।
स सर्व-समतां एत्य ब्रह्माभ्येति परम् पदम्॥

आपसी मतभेद होना केवल स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है; किंतु इन मतभेदों को दूर कर सर्वानुमति प्राप्त करने की प्रक्रियाएं भी कई संस्थाओं ने प्रस्थापित की हैं। उदाहरण के लिए क्वेकर संप्रदाय के सदस्य आपसी मतभेद उपस्थित हो जाने पर एक बंद कमरे में मौन-ध्यान के लिए बैठ जाते हैं ताकि उन्हें प्रभु की प्रेरणा मिल सके। रोम में पोप के चुनाव के समय वेटीकन-सिटी में एक कमरा है, जिसमें चुनाव करने वाले सभी कार्डीनल बंद कर दिए जाते हैं और जब तक एकराय से चुनाव पूरा न हो जाए तब तक उस कक्ष के किवाड़ खोले नहीं जाते। कभी-कभी सर्वानुमति होने में एक सप्ताह लग जाता है। जैसे ही सर्वसम्मति से नए पोप का निर्वाचन पूरा हो जाता है, कमरे की चिमनी से सफेद धुआं निकलने लगता है और चारों ओर हर्ष-ध्वनि होती है। फिर उस कमरे के दरवाजे का ताला खोल दिया जाता है। काफी वर्ष पूर्व जब मैंने सर्वोदय-विचार प्रचार के लिए विश्व-भ्रमण किया था तब 'वेटीकन' में यह कक्ष देखकर बड़ी खुशी हुई थी। इसमें भोजन आदि का सभी आवश्यक प्रबंध था; किंतु खाना बाहर ही तैयार करके खिड़कियों द्वारा अंदर दे दिया जाता है। कक्ष के भीतर कार्डीनलों के अलावा और कोई भी व्यक्ति नहीं जा सकता। काश भारत की कम-से-कम कुछ आध्यात्मिक व सांस्कृतिक संस्थाओं में भी इस प्रकार की परंपरा डाली जा सके! बहुसंख्या के आधार पर चुनावों की पद्धति से हमारे समाज में बहुत-सी बुराइयां घर कर गई हैं। जहां तक संभव हो, हमारी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य एकराय में संचालित हो। इस प्रक्रिया में भले कुछ देर लगे, किंतु सर्वानुमति से हमारे निर्णयों में एक मीठी खुशबू होगी, जिससे कार्यान्वयन आसान बनेगा। लेकिन सर्वानुमति का यह अर्थ न लगाया जाए कि एक व्यक्ति भी क्षुब्ध होकर संपूर्ण संस्था को ही तोड़ डाले। सर्वानुमति को सफल बनाने के लिए 'सुमति' का वातावरण नितांत आवश्यक है। जहां 'कुमति' होगी, वहां न सर्वसम्मति हो सकेगी और न आपसी सद्भाव। यह सुमति से ही सध सकेगा।

असली बात तो यह है कि 'सुमति' के वातावरण का तभी निर्माण होगा जब किसी संस्था के सामने भव्य व उत्तुंग लक्ष्य हो। उदाहरण के लिए स्वराज्य मिलने के पहले कांग्रेस के सन्मुख आजादी का एक निश्चित ध्येय था, जिसके लिए उसके कार्यकर्ता हमेशा मर-मिटने को तैयार थे। सर्व सेवा संघ ने कई वर्षों तक भूदान-ग्रामदान की अहिंसक क्रांति में सक्रिय हिस्सा लिया। रचनात्मक सेवकों में उस समय एक तमन्ना थी भूमि की समस्या हल कर डालने की और भारत में ग्राम-स्वराज्य को स्थापित करने की। धीरे-धीरे यह आंदोलन मंद पड़ता गया और विनोबाजी ने 'क्षेत्र-संन्यास' ले लिया। इसी बीच जयप्रकाशजी का संघर्षात्मक आंदोलन फूट निकला और कार्यकर्ताओं का ध्यान सहज उधर झुक गया। जैसे प्रकृति में रिक्त-स्थान (वेकुअम) नहीं रह सकता, उसी प्रकार संस्थाएं भी बिना किसी ठोस व प्रेरक कार्यक्रम के तेजस्वी बनी नहीं रह

सकतीं। ध्येय की रिक्तता के कारण उनमें गतिरोध उत्पन्न हो जाता है और उसके साथ ही आपसी संघर्ष व वैमनस्य प्रकट होने लगता है।

इस वक्त रचनात्मक या शिक्षण संस्थाओं के लिए कौन-सा 'मिशन' ऐसा है, जिसके लिए कार्यकर्ता अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार हो सकते हैं? जहां तक मैं सोच सकता हूं वह मिशन 'अंत्योदय' का ही हो सकता है। गांधीजी ने हमें सदा आदेश दिया था कि सबसे अधिक गरीब व दीन-दुखियों के कल्याण के बिना सर्वोदय का विचार केवल कवि-कल्पना ही बनकर रह जाएगा। इसी दृष्टि से उन्होंने 'दरिद्र-नारायण' की सेवा को इतना महत्त्व दिया था। स्वराज्य के अट्ठाइस वर्ष बाद भी योजना-आयोग के आंकड़ों के अनुसार इस समय लगभग 22 करोड़ जनता 'गरीबी रेखा' के नीचे जिंदगी बसर कर रही है। निरंतर बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति के कारण यह रेखा दिन-दिन अधिक नीची होती जा रही है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि आज भारत की करीब आधी जनसंख्या भयंकर गरीबी की चपेट में अपना वक्त गुजार रही है।

फिर क्या किया जाए? हम अगर जरा गहराई से अध्ययन करें तो देखेंगे कि खादी-ग्रामोद्योग जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा भी हम 'अंत्योदय' के लक्ष्य तक नहीं पहुंच सक रहे हैं। गोसेवा, हरिजन-कल्याण, आदिवासी विकास, नई तालीम व प्राकृतिक चिकित्सा की योजनाओं के जरिए हमारी संस्थाएं दरिद्रनारायण की सेवा करने में काफी हद तक असफल रही हैं।

अतः संघर्ष या सहयोग के निरर्थक विवाद में पड़े बिना अपने हरेक कार्यक्रम को इसी माप-दंड पर तोलना है कि उससे अत्यंत निर्धन वर्गों को कितना लाभ पहुंच रहा है। सरकारी योजनाओं की कामयाबी भी इसी नजरिए से नापी जानी चाहिए। यदि हमारी पंचवर्षीय योजनाएं अब भी 'गरीबी रेखा' के नीचे रहने वाली जनता के जीवन को न छू सकेंगी तो फिर समाजवाद और 'गरीबी हटाओ' के नारे बिल्कुल थोथे साबित होंगे।

बहुत वर्ष पहले राष्ट्रपिता ने हमें एक मूल-मंत्र दिया था—'जब तुम यह निर्णय न कर सको कि तुम्हारा क्या धर्म है, और तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड़ जाए, तब तुम उस व्यक्ति के चेहरे को याद करो जो तुम्हारी नजर में अत्यंत दुखी व गरीब था, और तुम अपने-आप से पूछो कि जो काम तुम करने जा रहे हो, उससे इस अति गरीब का क्या फायदा होगा? उसी वक्त तुम्हारा भ्रम दूर हो सकेगा और तुम्हें सही मार्ग दीखने लगेगा।'

बस, बापू का दिया हुआ यही तिलिस्म हमें एक नए 'मिशन' की प्रेरणा दे सकता है। उसी के द्वारा 'परस्परं भावयन्तः' का मार्ग भी एक बार फिर प्रशस्त हो सकता है न? दुनिया की तवारीख का निचोड़ यही है कि ऊंचे दरजे का मनुष्य त्याग और बलिदान की ओर आकर्षित होता है, भोग और विलास की ओर नहीं। इसी त्याग व आत्म-समर्पण से उसमें भाई-चारा व बिरादरी की भावनाएं प्रस्फुटित होती हैं और वह अपने साथियों के साथ कारवां बनाकर अपने ध्येय की ओर अग्रसर होता है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

• आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

•• रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

••• फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

सौहार्द की जननी सहनशीलता

□ समणी हिमप्रज्ञा

□

संसार में अनेक शक्तियां हैं। उनमें सर्वश्रेष्ठ शक्ति है—सहनशीलता। सहनशीलता के अभाव में कोई भी व्यक्ति कभी भी जीवन में सफलता हासिल नहीं कर सकता। साधना की पहली और अंतिम सीढ़ी है सहना। जो व्यक्ति सहन करना जानता है वह किसी प्रकार के विवाद में न उलझकर चारों ओर मैत्री और सौहार्द का वातावरण निर्मित करता है। जिसके पास सहनशीलता का चंदन है उसे कभी दुख का दावानल जला नहीं सकता। सहनशीलता ऐसा मल्हम है जो मानसिक आघातों से बने घावों को अविलंब भर सकता है। हर परिवार, हर वर्ग और हर संस्था की सफलता का राज है—सहनशीलता। सौहार्द की जननी सहनशीलता ही है। भगवान महावीर ने तो यहां तक कहा—'मासखमण' का तप करना इतना कठिन नहीं है जितना कठिन है किसी व्यक्ति या स्थिति को सहन करना।

आज व्यक्ति अपने परिवार के सदस्य की कही कोई बात भी सह नहीं पाता। छोटी-छोटी बातों पर रूष्ट हो जाना सामान्य बात है। व्यक्ति का अहंकार एकदम फुफकार उठता है। विचारों की भिन्नता, चिंतन की भिन्नता और व्यवहार की भिन्नता की स्थिति में वह दूसरे को सहन ही नहीं कर पाता। हर आदमी चाहता है कि जैसा मैं करूं, दूसरे भी अनुकरण करें। दूसरों को सहन करना बहुत बड़ी समस्या है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तो कहते हैं कि लोहे की कील पर व्यक्ति सो सकता है, किंतु दूसरे के कटु वचन को सहन नहीं कर सकता। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

मुहुत्त दुक्खा हु हवंति कंय्या
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणु बंधीणि महब्भयाणि।।

वाणी की शूल निकालना बड़ा मुश्किल है। कांटे को सरलता से निकाला जा सकता है, किंतु वाणी के चुभे हुए कांटे को निकालना कठिन कार्य है। आचार्यश्री तुलसी कहते थे—कांटे की चुभन को बर्दाश्त कर लेने वाला व्यक्ति ही फूलों की सुगंध बटोर सकता है। सहनशीलता ही सबसे बड़ी शक्ति है। हमारे पास विद्या है, बुद्धि है, कला है, सब-कुछ है—लेकिन सहनशीलता नहीं है तो सब निरर्थक है। विचारबोध में वे स्वयं लिखते हैं—

सहनशीलता विमलता, नहीं मधुर व्यवहार।
तो विद्या, बुद्धि, कला, है बिल्कुल बेकार।।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन की सफलता के पांच सूत्र दिए। उनमें पहला

> *'सहिष्णुता की आज इतनी कमी क्यों है? एक कारण हो सकता है—अध्यात्म का अभाव। आज भौतिकता की चकाचौंध तो आकाश को छू रही है, लेकिन अध्यात्म उतना ही तलहटी की ओर है। अध्यात्म का स्वर है—सर्दी-गर्मी, लाभ-अलाभ सब सहन करें। पृथ्वी सबको सहन करती है, वैसे ही मुनिगण भी सहन करते हैं। इसी तरह हर व्यक्ति भी सहन करे। सहन करने वाला ही विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इतिहास साक्षी है—जिसने सहा, वह रहा। जिसने नहीं सहा, वह मझधार में ही बहा।'*

सूत्र है—'सहन करो—सफल बनो।' यह सूत्र देने की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि वर्तमान जन-जीवन में सहनशीलता दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है।

कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे को कहने-सुनने की स्थिति में नहीं रहा है। हर व्यक्ति सोचता है, मैं सहन क्यों करूं? आज ऐसा लग रहा है, मानो सहन करना कोई अभिशाप है! सहन करेंगे तो समाज में हमारी इज्जत कम हो जाएगी, हम छोटे हो जाएंगे। हमें लोग दब्बू कहेंगे। ये ही अवधारणाएं आज व्यक्ति के मन में पनप रही हैं, पर ये मिथ्या हैं। क्योंकि सहिष्णुता वह आभूषण है। जिसे धारण कर व्यक्ति कहीं पर भी शांति का जीवन जी सकता है। इसके अभाव में परस्पर कलह, झगड़ा, मनमुटाव पैदा होता है तथा सारा वातावरण नरक के समान बन सकता है।

सहिष्णुता की कमी के कारण आए दिन आत्महत्याएं होती हैं। तनाव की स्थिति बढ़ती जा रही है। पाश्चात्य देशों में प्रति सात मिनट में एक आत्महत्या तथा प्रति पांच मिनट में एक तलाक होता है। भारत में भी यह स्थिति बढ़ती जा रही है। इन सबका प्रमुख कारण है हम एक-दूसरे के विचारों को सहन ही नहीं करना चाहते। आज परिवार के परिवार टूट रहे हैं। संयुक्त परिवार तो मानो समाप्त ही हो गए हैं। देखने में आता है कि भाई-भाई के बीच अनबन है, पति-पत्नी के बीच मनमुटाव है। एक विवेकशील कुलवधू यदि अपने सास-ससुर, जेठ-जिठानी आदि को सहन करती है तो कुल की मर्यादा बनी रहती है। वह देवरानी, देवर को सहन करती है जिससे परिवार में विग्रह न हो। अपने नौकर-नौकरानी को भी सहन करती है जिससे परिवार की व्यवस्था ठीक ढंग से चले, कार्य में कोई बाधा न आए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का ठीक ही कहना है कि जो सहन करना जानते हैं वहां हजारों व्यक्ति भी साथ रह सकते हैं, पर जो सहन करना नहीं जानते वहां पति-पत्नी का साथ रहना भी भारी होता है। साथ में रहना है, साथ में जीना है तो हम एक-दूसरे के विचारों को सहें, एक-दूसरे के व्यवहार को सहें। आचार्यश्री तुलसी ने 'व्यवहार बोध' में लिखा—

मेरी हरकत सहे सहज वह
मैं भी उसकी क्यों न सहूं
साथी-रूप निभाना है तो
सहिष्णुता के साथ रहूं।

जहां जीवन है वहां समस्याएं भी हैं। समस्या का समाधान एक ही है—'हम एक-दूसरे को सहन करें'। छोटे बड़े को सहन करें और बड़े छोटे को सहन करें! जहां परस्पर प्रेम, सौहार्द है, वहां पर चित्त समाधि, प्रसन्नता, मानसिक शांति है और जीने में भी अपूर्व आनंद है। जहां इन बातों का अभाव है वहां घुटन, हताशा, मानसिक अशांति है और जीवन जीना भी वहां दूभर हो जाता है।

सहिष्णुता की आज इतनी कमी क्यों है? एक कारण हो सकता है—अध्यात्म का अभाव। आज भौतिकता की चकाचौंध तो आकाश को छू रही है, लेकिन अध्यात्म उतना ही तलहटी की ओर है। अध्यात्म का स्वर है—सर्दी-गर्मी, लाभ-अलाभ सब सहन करें। पृथ्वी सबको सहन करती है, वैसे ही मुनिगण भी सहन करते हैं। इसी तरह हर व्यक्ति भी सहन करे। सहन करने वाला ही विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इतिहास साक्षी है—जिसने सहा, वह रहा। जिसने नहीं सहा, वह मझधार में ही बहा।

आध्यात्मिक क्षेत्र हो, चाहे सामाजिक—हर क्षेत्र में सहन करना ही सफलता के सोपान चढ़ना है। अरस्तू ने कहा—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में एक से अनेक व्यक्ति होते हैं। अनेक व्यक्ति होंगे, वहां सबके विचार, रुचियां कभी भी एक समान नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में मनभेद की संभावना रहेगी। हमारा विचारभेद हो, लेकिन मनभेद न हो। क्योंकि मनभेद होने से ही अनके समस्याएं खड़ी हो सकती हैं।

ऐसी समस्याओं का एक समाधान है—अनेकांत। अनेकांत कहता है—मैं भी सत्य हूं, तुम भी सत्य हो। अनेकांत के सूत्र को जीवन-व्यवहार में अपनाया जाए तो उससे हर समस्या का समाधान आसानी से प्राप्त हो सकता है। आज हर व्यक्ति अनुभव कर रहा है कि सहिष्णुता का विकास होना चाहिए। केवल ऐसी रट लगाने-मात्र से सहिष्णुता का विकास नहीं हो सकता। सहिष्णुता रटने का नहीं, आचरण में लाने का तत्त्व है। जो व्यक्ति सहन करना सीख लेता है वह व्यक्ति अपने जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन ला सकता है। परिवर्तन के लिए आवश्यक है सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा से निश्चित ही बदलाव आएगा। कैसे करें अनुप्रेक्षा? इसकी विधि निम्नानुसार है—

☐ महाप्राण ध्वनि—2 मिनट।

☐ कायोत्सर्ग—5 मिनट।

☐ नीले रंग का श्वास लें, अनुभव करें—श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं—3 मिनट।

☐ विशुद्धि केंद्र पर नीले रंग का ध्यान करें—3 मिनट।

❑ ज्योति-केंद्र पर ध्यान केंद्रित कर अनुप्रेक्षा करें कि सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है, मानसिक संतुलन बढ़ रहा है। इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर इसका नौ बार मन-ही-मन में जप करें—5 मिनट।

अनुचिंतन करें :

शारीरिक संवेदन, ऋतुजनित संवेदन, रोगजनित संवेदन, मानसिक संवेदन, सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, भावात्मक संवेदन, विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रुचि—ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किंतु इनके प्रभाव को मुझे कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित होऊंगा, मेरी शक्तियां उतनी ही प्रबल होंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है। यह अनुचिंतन दस मिनट तक करें। फिर महाप्राण ध्वनि (दो मिनट तक) के साथ ध्यान संपन्न करें।

इसका फलित होगा मैत्री, सौहार्द और परस्परता का विकास। यदि हम इस प्रक्रिया को नियमित करेंगे तो हमारा जीवन एक लयात्मक—संगीत बन जाएगा। औरों के लिए नहीं सहना, अपितु स्वयं के लिए सहना है। क्योंकि सहिष्णुता अमोघमंत्र है—सफलता का, अस्तित्व का और व्यक्तित्व निर्माण का। अतः सहन करो, सफल बनो—इस सूत्र को अपनाएं और जीवन के हर मोड़ पर सफलता के सोपान स्थापित करते जाएं। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-
कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें, हाथ
से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कर्तृत्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

* * *

आलोचना का विवेक

❑ मुनि विनोदकुमार 'विवेक'

जो व्यक्ति कभी भी गलती नहीं करता, वह या तो भगवान माना जाएगा या एकदम निकम्मा। भगवान को सर्वशक्तिमान माना जाता है, माना जाता है कि उनसे किसी प्रकार की गलती नहीं होती। दूसरी तरफ, जो व्यक्ति कुछ भी काम नहीं करता उससे भी कोई गलती होने की संभावना नहीं रहती। पर 'कुछ भी नहीं करना' क्या अपने-आप में सबसे बड़ी गलती नहीं होती है? मनुष्य को गलतियों का पुतला कहा जाता है, क्योंकि गलती होना अस्वाभाविक नहीं है।

जहां क्रिया होती है, उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। प्रतिक्रिया विधायक भी हो सकती है और नकारात्मक भी। जहां तक किसी गलती का सवाल है, इसकी प्रतिक्रिया आलोचना के रूप में होती है, पर सम्यक् रूप से की गई आलोचना वरदान बन जाती है, ठीक इसके विपरीत असम्यक् रूप से की गई आलोचना अभिशाप भी बन सकती है। इसलिए आलोचना करने का विवेक भी होना जरूरी है। किसी व्यक्ति की प्रकृति कैसी है, वह सज्जन है या दुर्जन यह उसके द्वारा की गई प्रतिक्रिया से परिलक्षित हो जाता है।

> *'व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। एक व्यक्ति के कार्य का दूसरे पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता ही है। यदि गलतियों को बतलाया ही नहीं गया तो उनका सुधार कैसे होगा? जब उपेक्षा, भय और प्रलोभनवश किसी की गलतियों को दबा दिया जाता है तब वे अंदर-ही-अंदर बढ़ती रहती हैं और कालांतर में विकराल रूप भी धारण कर सकती हैं। इसलिए आलोचना आवश्यक है, परंतु इससे भी अधिक आवश्यक है—उसका रचनात्मक और विवेकयुक्त होना। सही तरीके से की गई आलोचना का अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है और उसकी बार-बार आवश्यकता नहीं होती।'*

कहा गया है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः।।

प्रमादवश किसी से कोई गलती हो जाए तो दुर्जन उस पर हंसते हैं, पर सज्जन उसको सुधार देते हैं।

नकारात्मक और छिछले स्तर की आलोचना हेय (छोड़ने योग्य) है। जो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता वह आलोचना तो कर ही लेता है। क्योंकि आलोचना करना सबसे सरल है और सुधार करना सबसे कठिन। इस प्रकार की आलोचना से मिलता कुछ नहीं, पर खोता बहुत-कुछ है।

बहुश्रुत है यह प्रसंग कि एक चित्रकार ने बहुत सुंदर चित्र बनाया और उसे शहर के मुख्य मार्ग पर रखकर उसके नीचे लिख दिया—'यदि आपको इस चित्र में कोई गलती नजर आए तो कृपया वहां पर निशान लगा दें।' शाम तक वह पूरा चित्र निशानों-ही-निशानों से भर गया। क्योंकि जो भी व्यक्ति उस चित्र को देखता, उसे कोई-न-कोई भूल नजर आती और वह निशान लगाकर आगे चला जाता। दूसरे दिन उसी चित्रकार ने एक दूसरा चित्र रखा, उसके नीचे लिखा—'यदि आपको इस चित्र में कोई

भूल नजर आए तो कृपया सुधार दें।' शाम तक वह चित्र वैसा-का-वैसा पड़ा रहा। सचमुच में उस चित्रकार ने उस चित्र में कई भूलें रख छोड़ी थीं।

नकारात्मक आलोचना अध्यात्म की दृष्टि से भी पाप मानी जाती है। अठारह पापों में इसका स्थान पंद्रहवां है। केवल आलोचना के लिए आलोचना करना व्यावहारिक दृष्टि से समय और शक्ति को नष्ट करना है, वहीं सामाजिक प्रतिष्ठा को भी नष्ट करना है।

उपादेय आलोचना

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। एक व्यक्ति के कार्य का दूसरे पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता ही है। यदि गलतियों को बतलाया ही नहीं गया तो उनका सुधार कैसे होगा? जब उपेक्षा, भय और प्रलोभनवश किसी की गलतियों को दबा दिया जाता है तब वे अंदर-ही-अंदर बढ़ती रहती हैं और कालांतर में विकराल रूप भी धारण कर सकती हैं। इसलिए आलोचना आवश्यक है, परंतु इससे भी अधिक आवश्यक है—उसका रचनात्मक और विवेकयुक्त होना। सही तरीके से की गई आलोचना का अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है और उसकी बार-बार आवश्यकता नहीं होती।

इसके लिए निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—

☐ आलोचना करने का दृष्टिकोण भूल-सुधार और सहायता करने का हो, किसी को नीचा दिखाने का या सजा देने का नहीं।

☐ आलोचना गलत क्रिया की हो, कर्ता की नहीं। 'भूलवश तुमसे गिलास टूट गई' और 'तुमने गिलास तोड़ डाली' का अंतर समझें।

☐ सब के सामने न कहें। दूसरों के सामने कहने से व्यक्ति के स्वाभिमान को चोट पहुंचती है।

☐ संबंधित व्यक्ति से ही बात करें, पीठ पीछे नुक्ताचीनी न करें।

☐ वास्तविकता को जानने का प्रयास करें। बिना पूरी जानकारी प्राप्त किए कोई धारणा न बनाएं।

☐ उत्तेजित न हों।

☐ धैर्य, शांति और शिष्टता से बातें करें।

☐ भाषा सुझाव की हो, आदेश की नहीं।

☐ बात कहने के उचित अवसर की तलाश करें, जल्दबाजी काम बिगाड़ती है।

☐ सहमति लेकर बात करें। जैसे बात करने से पहले पूछना—'यदि आपको बुरा न लगे तो एक बात कहूं।'

☐ अपनी बात के दुराग्रह पर अड़ें नहीं। 'मुझे ऐसा लगता है', 'हो सकता है मेरे समझने में भूल हो'—ऐसे अनाग्रही शब्दों का प्रयोग करें।

☐ दूसरों को अपनी बात कहने का अवसर दें। उनकी बात को भी ध्यान से सुनें।

☐ गलती से होने वाले नुकसान और उसके सुधार से होने वाले लाभ बताएं।

☐ हर छोटी-मोटी बात को आलोचना का मुद्दा न बनाएं।

☐ आलोचना करने पर यदि व्यक्ति अपनी गलती सुधार लेते हैं तो उन्हें धन्यवाद दें।

☐ आलोचना सीधे-सरल शब्दों में करें, घुमा-फिराकर नहीं।

☐ अपनी बात विधायक भाव, प्रसन्नता और प्रशंसा के साथ समाप्त करें।

☐ आलोचना दवा के समान होती है। यह उचित मात्रा में ही उपयोगी होती है, अधिक मात्रा में नहीं।

☐ दूसरों के दिल में अपने प्रति श्रद्धा पैदा करें ताकि वे आपकी बात सहर्ष स्वीकार कर सकें।

☐ सबसे पहले स्वयं को सुधारें, क्योंकि आचरण-शून्य उपदेश काम नहीं करता।

☐ यदि ऐसा लगे कि शुभ उद्देश्य से तथा सम्यक् तरीके से की गई आलोचना को अन्यथा लिया जा रहा है और यदि प्रतिशोध की भावना पैदा हो रही है तो स्वयं को तटस्थ रखना ही श्रेयस्कर है।

दूषणं मति रूपैति नोत्तमी, माध्यमी स्पृशति भाषते न च।
वीक्ष्य पार्श्वमथ भाषतेऽधमो, रारटीति सहसा धमाधमः।।

उत्तम बुद्धि पर-दोष का स्पर्श ही नहीं करती, मध्यम बुद्धि स्पर्श तो कर लेती है, लेकिन कहती नहीं। अधम बुद्धि वाला कह देता है, किंतु अधमाधम तो हल्ला ही मचाने लगता है।

दूसरों की गलती देखकर बिना समझे आपा खो देने वालों के लिए आचार्यश्री जयगणी ने कहा है—

सूत्र तणी नहीं धारणा बलि विमल विवेक न जोय।
खामी देख छद्मस्थ री, कोई मूरख देवे रोय।।

❖

बालकथा

असली दूल्हा

❑ विष्णु प्रभाकर

किसी देश में एक राजा राज करता था। उसके राज्य में बड़े-बड़े दलदल थे। उनको पार करना नामुमकिन था। घूमकर जाना पड़ता था और इसमें बहुत समय लगता था। इसी सड़क के किनारे एक गरीब बूढ़ा रहता था। उसके तीन बेटे थे— जगदेव, हरदेव और श्याम। बूढ़े आदमी ने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि वह इन दलदलों को पाट देगा और एक ऐसी सड़क बना देगा, जिस पर लोग आसानी से चल सकें। जिस रास्ते को पार करने के लिए आज तीन साल लगते हैं, तब कुल तीन हफ्ते लगेंगे। घोड़े पर तो वह रास्ता तीन दिन में ही तय कर लिया जा सकेगा।

और उसने ऐसा ही किया। अपने तीनों बेटों के साथ मिलकर कुछ दिन बाद उसने दलदलों को भर दिया, सड़कें बना दीं, नालों पर पुल भी बना दिए। एक दिन जब वह घर लौटा, तो उसने अपने बड़े लड़के जगदेव से कहा, 'मेरे प्यारे बच्चे, जाओ, पुल के नीच बैठ जाओ और लोग क्या कहते हैं, यह सुनो।'

जगदेव तुरंत पुल के नीचे जा बैठा। थोड़ी देर बाद दो साधु पुल पर आए। उनमें से एक ने दूसरे से कहा, 'जिस व्यक्ति ने यह पुल बनाया है, यह सीधी सड़क बनाई है, वह भगवान से जो-कुछ मांगेगा, मिलेगा।'

> ' राजा बहुत खुश हुआ। उसने राजकुमारी के नाम एक चिट्ठी लिखी। उसको लेकर श्याम राजधानी की ओर चल पड़ा। एक कोस चलने के बाद उसने बारहसिंगे का रूप धारण किया और तीर की तरह दौड़ने लगा। जब थक गया, तो खरगोश बन गया। जब खरगोश भी थक गया, तो वह सुनहरे सिर वाली चिड़िया बन गया। अब वह खूब तेजी से उड़ सकता था। उड़ते-उड़ते वह राजकुमारी के महल के पास पहुंच गया। यहां आकर उसने मनुष्य का रूप धारण कर लिया और अंदर जाकर राजा की चिट्ठी राजकुमारी को दी। पढ़कर राजकुमारी चकित रह गई। बोली, 'तुम इतनी जल्दी कैसे आ गए?' '

जगदेव ने जैसे ही ये शब्द सुने, तो वह बाहर निकल आया और बोला, 'यह पुल मैंने अपने पिता और भाइयों के साथ मिलकर बनाया है।'

साधु बोले, 'तुम भगवान से क्या मांगना चाहते हो?'

जगदेव ने कहा, 'मैं धनवान बनना चाहता हूं।'

साधु बोले, 'बहुत अच्छा। खेत में जाओ। वहां एक बरगद का पेड़ है। उस पेड़ के नीचे एक बड़ा खजाना है। उसमें सोना, चांदी, मणिमुक्ता, सब-कुछ है। उसे खोदो, भगवान तुमको धनी बना देंगे।'

जगदेव ने ऐसा ही किया और उसे सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात, सभी-कुछ मिले। उन्हें लेकर वह घर पहुंचा, तो उसके पिता ने पूछा, 'क्या तुमने किसी को पुल पर चलते देखा?'

जगदेव ने सब कहानी कह सुनाई और वह धन भी दिखाया, जो उसे

मिला था। दूसरे दिन उस बूढ़े आदमी ने अपने दूसरे बेटे हरदेव से भी वही कहा, जो जगदेव से कहा था। वह भी तुरंत पुल के नीचे जा बैठा। उसी तरह साधु आए। उसी तरह उन्होंने कहा, 'जिसने यह पुल बनाया है, वह भगवान से जो भी मांगेगा, मिलेगा।' हरदेव ने कहा, 'मैं चाहता हूं, भगवान मुझे जीवन-भर खाने को रोटी देते रहें।'

साधु बोले, 'बहुत अच्छा। घर जाओ और नई जमीन लेकर उसमें अनाज बोओ। भगवान तुम्हें जिंदगी-भर रोटी देगा।'

उसने ऐसा ही किया और घर लौटकर पिताजी को सारी कहानी सुनाई। तीसरे दिन उस बूढ़े ने अपने सबसे छोटे लड़के श्याम से भी वही कहा जो दोनों बड़े लड़कों से कहा था। वह भी पुल के नीचे जाकर बैठ गया। उसने भी साधुओं को बातें करते सुना और जब साधुओं ने उससे पूछा कि तुम भगवान से क्या चाहते हो? तो उसने उत्तर दिया, 'मैं महाराज का सैनिक बनना चाहता हूं।'

साधु बोले, 'कुछ और मांगो। सैनिक का काम बड़ा कसाले का होता है। अगर तुम सैनिक बन गए, तो समुद्र का राजा तुम्हें बंदी बना लेगा। तुम पछताओगे।'

पर श्याम अपनी बात पर अड़ा रहा।

साधु बोले, 'तुम राजा की सेवा करना चाहते हो? अच्छी बात है। हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं।'

यह कहकर उन्होंने श्याम के सिर पर तीन बार हाथ रखा और उसे पहली बार बारहसिंगा, फिर खरगोश और बाद में सुनहरी चिड़िया बना दिया और अंत में उसे मनुष्य बनाकर बोले, 'अब तुम राजा की सेना में भर्ती हो सकते हो। यदि तुम्हें कहीं जल्दी जाना पड़े, तो तुम बारहसिंगा, खरगोश या चिड़िया—जो चाहो बन सकते हो।'

श्याम घर लौट आया और उसने पिता से कहा, 'मुझे राजा की सेना में भर्ती होने की आज्ञा दो।'

पिता पहले तो हिचका, लेकिन फिर आज्ञा दे दी।

श्याम राजा के पास पहुंचा। ऐसे हृष्ट-पुष्ट नौजवान को राजा ने अपना रक्षक नियुक्त कर लिया।

दिन बीतते गए। अचानक एक दूसरे राजा ने उस देश पर चढ़ाई कर दी। राजा अपनी सेना लेकर उससे लड़ने को चल पड़ा। श्याम भी साथ में था। काफी दूर चलने के बाद राजा को याद आया कि वह न तो अपनी विशेष गदा लाया है, न तलवार। अब वह युद्ध कैसे करेगा? उसने सभी सैनिकों से कहा कि क्या तुम में से कोई व्यक्ति जल्दी से जाकर ये दोनों चीजें ला सकता है? जो यह काम करेगा, उससे मैं राजकुमारी की शादी कर दूंगा और अपना आधा राज भी दे दूंगा।

बहुत-से सैनिक आगे आए। किसी ने कहा—इस काम में तीन महीने लगेंगे, किसी ने कहा तीन हफ्ते लगेंगे। किसी ने एक पखवाड़ा बताया। लेकिन श्याम बोला, 'मैं यह काम तीन दिन में कर सकता हूं।'

राजा बहुत खुश हुआ। उसने राजकुमारी के नाम एक चिट्ठी लिखी। उसको लेकर श्याम राजधानी की ओर चल पड़ा। एक कोस चलने के बाद उसने बारहसिंगे का रूप धारण किया और तीर की तरह दौड़ने लगा। जब थक गया, तो खरगोश बन गया। जब खरगोश भी थक गया, तो वह सुनहरे सिर वाली चिड़िया बन गया। अब वह खूब तेजी से उड़ सकता था। उड़ते-उड़ते वह राजकुमारी के महल के पास पहुंच गया। यहां आकर उसने मनुष्य का रूप धारण कर लिया और अंदर जाकर राजा की चिट्ठी राजकुमारी को दी। पढ़कर राजकुमारी चकित रह गई। बोली, 'तुम इतनी जल्दी कैसे आ गए?'

श्याम ने तुरंत बारहसिंगा, खरगोश और चिड़िया का रूप धारण किया और बताया, 'मैं इस तरह रूप बदलकर आया हूं।'

जिस समय वह बारहसिंगा बना, राजकुमारी ने उसके सिर के कुछ बाल काट लिए। जब वह खरगोश बना, तो राजकुमारी ने उसके शरीर पर से भी कुछ बाल काट लिए। जब उसने चिड़िया का रूप धारण किया, तो राजकुमारी ने उसका एक पंख निकाल लिया। फिर उसको खाने-पीने को दिया। राजा की गदा और तलवार भी दी। श्याम ने राजकुमारी को नमस्कार किया और पहले की तरह कुछ दूर बारहसिंगा बनकर दौड़ा, कुछ दूर खरगोश बनकर दौड़ा। फिर चिड़िया बनकर उड़ा और राजा की छावनी के पास पहुंच गया।

वह बहुत थक गया था। यहां आकर वह थोड़ी देर के लिए लेट गया और फिर सो गया। तब एक सेनापति उधर से गुजरा और उसने उसे देखा। पास रखी हुई राजा की गदा और तलवार भी देखी। बस उसने श्याम को समुद्र में धकेल दिया और गदा तथा तलवार लेकर राजा के पास पहुंच गया और बोला, 'आपका वह श्याम तो बहुत झूठा था। उसका तो कुछ पता ही नहीं। लगता है, रास्ते में ही कहीं भटक गया है। देखिए, मैं जाकर ये चीजें ले आया हूं।'

राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सेनापति को धन्यवाद दिया। और फिर लड़ाई में शत्रु को बुरी तरह हरा दिया।

उधर श्याम जैसे ही समुद्र में गिरा, तो वहां के राजा ने उसे पकड़ लिया और नीचे अपने महल में ले गया। एक साल तक वह वहां रहा। वह बहुत उदास रहता और अपनी बदकिस्मती पर रोता था।

समुद्र का राजा श्याम को रात के समय किनारे पर ले जाता था और सूरज निकलने से पहले लौटा लाता था। इसी तरह दो बरस बीत गए। श्याम को छुटकारे का कोई उपाय नजर नहीं आता था, इसलिए उसकी उदासी बढ़ती जाती थी।

इसी तरह तीसरा साल भी बीत गया। वह उसी तरह सोच में पड़ा रहा। समुद्र के राजा ने एक बार फिर उसे किनारे पर भेज दिया, लेकिन इस बार ऐसा हुआ कि राजा के वापस आने से पहले ही सूरज निकल आया। अब राजा उसको नहीं ले जा सकता था।

बस, श्याम उसकी कैद से छूट गया और राजधानी की ओर चल पड़ा। कुछ दूर वह बारहसिंगा बनकर चला। कुछ दूर खरगोश बनकर, फिर चिड़िया बनकर उड़ा और अंत में वह महल के पास पहुंच गया। पूरे तीन साल बीत चुके थे। राजा ने राजकुमारी की शादी उस सेनापति से करने की आज्ञा दे दी थी। जिस समय श्याम वहां पहुंचा राजकुमारी वधू के वेश में बैठी हुई थी। सेनापति भी पास बैठा था। राजकुमारी ने श्याम को देखा, तो तुरंत चिल्ला पड़ी, 'पिताजी महाराज, मेरी बात सुनिए। मेरा दूल्हा आपका यह सेनापति नहीं है। वह श्याम है, जो आपकी गदा और तलवार ले गया था।'

फिर उसने श्याम से कहा, 'श्याम, महाराज को दिखाओ कि वह सब तुमने कैसे किया था?'

श्याम तुरंत बारहसिंगा बन गया। राजकुमारी ने अपना रूमाल खोला और वह बाल दिखाए, जो उसने काट लिए थे। फिर वह खरगोश बना, तो फिर उसने बाल दिखाए। वह चिड़िया बना, तो उसने पंख दिखाया और पूछा, 'महाराज, क्या आप संतुष्ट हैं?'

महाराज समझ गए कि सचाई क्या है। सेनापति ने भी अपना अपराध स्वीकार कर लिया। राजा ने उसे देश निकाले की सजा दी और राजकुमारी की शादी श्याम से कर दी। ❖

सार्वभौमिक शिक्षा के बिना लोकतंत्र का निर्माण संभव नहीं है। शिक्षा देने के अतिरिक्त यदि हमें समाज में लोकतंत्रीय पद्धति का प्रसार करना है तो इस कार्य में हमें सहकारी आंदोलन से बढ़कर दूसरी वस्तु से सहायता नहीं मिल सकती है। इस तरह का सामाजिक संगठन स्थानीय लोगों में कर्तृत्व शक्ति को बढ़ाता है, सामाजिक कल्याण के लिए समानता के आधार पर लोगों को संघटित करता है और लोकतंत्र को विकसित करता है। ऐसे क्रांतिकारी जन-संघटन के नैतिक प्रभाव से लोकतंत्रीय ढंग से शासित स्वतंत्र व्यक्तियों वाले समाज के निर्माण में सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त इस बात का भी प्रयत्न होना चाहिए कि देश के पिछड़े हुए भागों में सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति हो सके। इन्हीं तरीकों से हम भयंकर सामाजिक विषमता को समाप्त कर सकते हैं जिससे आज हमारा सामाजिक संघटन दूषित हो गया है। साथ ही राज्य का यह विशेष कर्तव्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक समूह को उन्नति का समान अवसर प्रदान करे।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

With best compliments from :

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, जनवरी, 2003 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

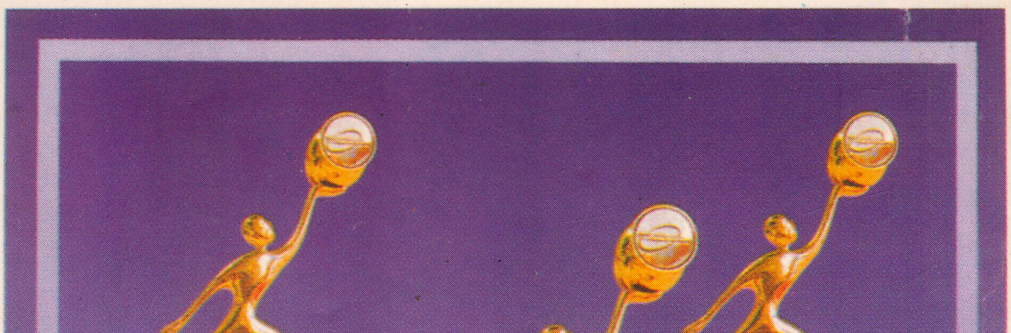

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926 / 0640, Fax - 22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।